श्री जैनदिवाकर जन्म शताब्दी समारोह के उपलक्ष्य मे

□ सम्प्रेरक
कविरत्न श्री केवलमुनि
भगवतीमुनि 'निर्मल'

□ प्रकाशक :
श्री जैनदिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय
महावीर बाजार, ब्यावर(राज०)

□ मुद्रण व्यवस्था
श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स
दरेसी २, आगरा-४
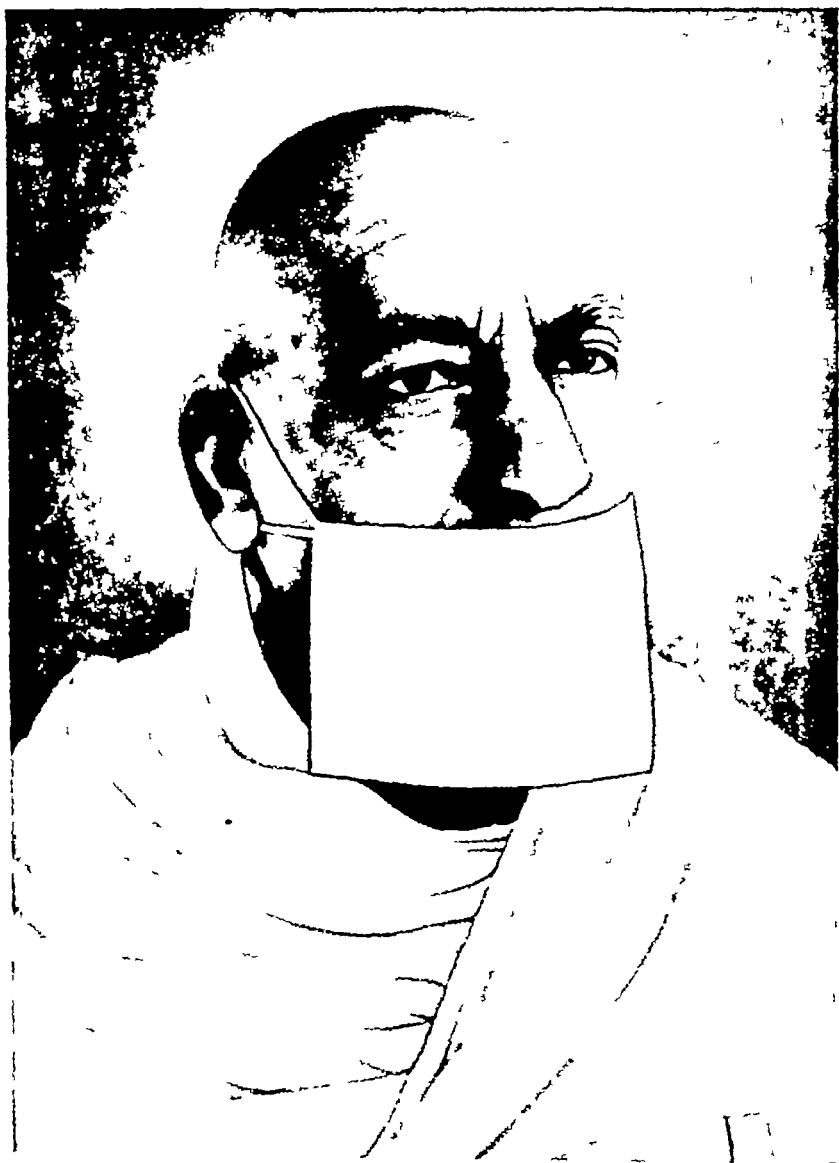
जैनदिवाकर श्री चौथमलजी महाराज

प्रकाशकीय

निर्ग्रन्थ-प्रवचन का यह सरल-सुन्दर सस्करण पाठको के समक्ष प्रस्तुत करते हुए आज हम अतीत की अनेक सुखद स्मृतियो मे गोता लगा रहे हैं।

आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व एक दिन जगद्वल्लभ, जैनदिवाकर, प्रसिद्धवक्ता प० श्री चौथमलजी महाराज साहब के अन्त करण मे एक पुनीत परिकल्पना स्फुरित हुई थी कि साधारण जिज्ञासुओ को जिनवाणी का नित्य स्वाध्याय तथा मनन-चिन्तन हो सके इसलिए आगम वाणी का एक सरल सकलन होना चाहिए।

सकल्प के धनी गुरुदेवश्री ने 'शुभस्य शीघ्रम्' के अनुसार आगम-वाणी का चयन प्रारम्भ किया, गाथाएँ चुनी गई। उन सग्रहीत गाथाओ को साहित्य प्रेमी गणिवर्य प० उपाध्यायश्री प्यारचदजी महाराज ने विषयानुक्रम किया और एक सुन्दर सकलन तैयार हुआ। निर्ग्रन्थ-प्रवचन का जब प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ तो साहित्य जगत मे एक हलचल मच गई थी। जिस किसी विद्वान् विचारक और जिज्ञासु सहृदय ने यह पुस्तक देखी, वह झूम उठा और मुक्तकठ से सराहना करने लगा। कुछ ही समय मे इसकी इतनी माँग बढी कि हिन्दी, गुजराती, अँग्रेजी आदि भाषाओ मे कई सस्करण प्रकाशित हुए और हाथो-हाथ समाप्त हो गये। निर्ग्रन्थ-प्रवचन का बृहद् भाष्य भी प्रकाशित हुआ तो कई गुटका सस्करण भी छपे।

इतना दीर्घ समय बीत जाने के बाद आज भी इसकी उपयोगिता अपनी जगह है। महावीर वाणी के अनेक नये सकलन प्रकाश मे आ चुके हैं, फिर भी 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' की सकलन-सपादन शैली आज भी अनूठी ही है और अपना अलग ही स्थान बनाये हुए है।

अब जैनदिवाकर जन्म शताब्दी के पावन प्रसग पर हम निर्ग्रन्थ-प्रवचन का नया सस्करण पाठको की सेवा मे प्रस्तुत कर रहे हैं। इस प्रकाशन मे गुरुदेवश्री के प्रमुख शिष्य कविरत्न श्री केवलमुनिजी एव गुरुदेवश्री के शिष्यरत्न श्री मगलचदजी महाराज साहब के शिष्य युवा साहित्यकार श्री भगवतीमुनिजी 'निर्मल' का मार्गदर्शन तथा प्रेरणा हमारा सम्बल रही है। हम उन गुरुवर्य के प्रति आभार व्यक्त करते हैं। साथ ही प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीचदजी सुराना 'सरस' का सहयोग भी मुद्रण को अधिक नयनाभिराम बना सका है। हम आशा करते हैं यह सस्करण पाठको की जिज्ञासा को शात व तृप्त करेगा।

मन्त्री—

जैनदिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय,

ब्यावर

यह उपक्रम :

भगवान श्री महावीर का २५वाँ निर्वाण शताब्दी-समारोह भारत एव विश्व मे अत्यन्त उत्साहपूर्वक मनाया जा चुका है। इस आयोजन की अनेक उल्लेखनीय उपलब्धियो मे से एक उपलब्धि—समस्त जैन समाज द्वारा मान्य 'समणसुत्त' का प्रकाशन भी है। इसकी मूल प्रेरणा आचार्य सत विनोवा भावे द्वारा उद्भूत हुई—यह भी एक महत्वपूर्ण कडी है।

यह सच है कि भगवान महावीर की वाणी मे आज भी वह अद्भुत शक्ति-स्रोत छिपा है जिसके अनुशीलन-परिशीलन से भ्रान्त-उद्भ्रान्त मानव-चेतना को शाति की अनुभूति होती है। दुर्बल आत्मा मे शक्ति का नव सचार होता है।

भगवान की वाणी आगमो मे निवद्ध है। उनकी भाषा अर्धमागधी है, और वचन पुष्प विशाल आगम वाड्मय मे यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। सामान्य जिज्ञासु के लिए यह सम्भव भी नही है और सुलभ भी नही है कि वह अगमो के गम्भीर क्षीर-सागर मे गोता लगाकर उस वाणी का रसास्वाद कर सके। अपनी अल्पज्ञता, व्यस्तता तथा आध्यात्मिक अक्षमता के कारण वह विवश है कि चाहते हुए भी आनन्द के उस अक्षय-निर्झर मे डुवकी नही लगा सकता। यह कितनी विचित्र और दयनीय स्थिति है मानव की कि सामने क्षीर-सागर लहरा रहा है, और वह उसकी एक-एक बूंद के लिए तरस रहा है, अमृत का कलश भरा है, और वह छटपटा रहा है उसकी एक-बूंद के लिए .. अमृत-पान नही कर पा रहा है।

जिनवाणी के जिज्ञासु-पिपासु भव्यो की इस विवशता तथा दयनीयता का अनुभव आज बडी तीव्रता के साथ हो रहा है, किन्तु आज से लगभग चालीस

वर्ष पहले मानव-चेतना की इस विवशता को एक महर्षि ने, एक मनीषी ने, एक लोक-चेतना के उद्बोधक सत ने बडी तीव्रता के साथ अनुभव किया था।

वैदिक विचारानुयायियो के पास 'गीता', और बौद्धो के पास 'धम्मपद' जैसी सार-भूत पुस्तकें थी, पर जैनो के पास ऐसी सुव्यवस्थित सुसम्पादित कोई एक पुस्तक नही थी। जिज्ञासुओ की माँग उठी, और जैनदिवाकर श्री चौथमल जी महाराज की सकल्प-चेतना वलवती बनी। उन्होने आगमो का गम्भीर अनुशीलन कर भगवान महावीर के उदात्त वचनो का एक सुव्यवस्थित सकलन प्रस्तुत किया—निर्ग्रन्थ-प्रवचन।

निर्ग्रन्थ—मन की, धन की गाँठ से मुक्त, बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थियो से मुक्त उस वीतराग निष्पृह पुरुष की वाणी-प्रवचन—बस यही है निर्ग्रन्थ-प्रवचन। निर्ग्रन्थ की वाणी सुनने से, पढने से, मनन करने से—निर्ग्रन्थता आती है, व्यक्ति अपने बन्धनो से स्वय ही मुक्त होता है और परमशान्ति का अनुभव करता है।

आज के सन्दर्भ मे 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' की उपयोगिता क्या है, कितनी है—यह बताने की आवश्यकता नही है। भगवान महावीर की वाणी के छोटे-बडे अनेकानेक सकलन आ रहे हैं और जन-मानस उनका स्वाध्याय करके लाभ उठा रहा है। किन्तु मैं निश्चय के साथ कह देना चाहता हूँ कि समग्रता एव ्चीनता की दृष्टि से 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' चालीस वर्ष की यात्रा मे सर्वप्रथम है।

परम श्रद्धेय गुरुदेव जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज की दूर-दृष्टि ।र दीर्घ-परिश्रम का सुफल भारत एव विदेश के हजारो-हजार जिज्ञासुओ को 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' के रूप मे आज भी मिल रहा है और युग-युगो तक मिलता रहेगा। हिन्दी, अँग्रेजी, उर्दू, गुजराती, कन्नड आदि भाषाओ मे इसके सस्करण, अनुवाद इसकी सार्वजनीनता सिद्ध करते हैं।

जैनदिवाकर जन्मशताब्दी के उपलक्ष्य मे 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' का यह नया सस्करण अनेक दृष्टियो से सुन्दर और भव्य बन पडा है। जिज्ञासु पाठको के समक्ष वह अमृतकलश उद्घाटितकर रख दिया गया है, अब वे अपनी पूरी क्षमता के साथ अमृत पान कर जागतिक त्रय तापो से मुक्ति पाने का प्रयत्न करें।

इत्यलम्

—केवलमुनि

निर्ग्रन्थ-प्रवचन : महत्व और फलश्रुति

किंपाक फल वाहरी रंग-रूप से चाहे जितना सुन्दर और मनमोहक दिखलाई पडता हो परन्तु उसका सेवन परिणाम मे दारुण दुःखो का कारण होता है। ससार-सुखो की भी यही दशा है। ससार के भोगोपभोग, आमोद-प्रमोद, हमारे मन को हरण कर लेते हैं। जो अदूरदर्शी हैं, वहिरात्मा हैं, उन्हें यह सब सासारिक पदार्थ मूढ वना देते हैं। कंचन और कामिनी की माया उसके दोनो नेत्रो पर अज्ञान का ऐसा पर्दा डाल देती है कि उसे इनके अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नही। यह माया मनुष्य के मन पर मदिरा का सा किन्तु मदिरा की अपेक्षा अधिक स्थायी प्रभाव डालती है। वह वेभान हो जाता है। ऐसी दशा मे वह जीवन के लिए मृत्यु का आलिंगन करता है, अमर वनने के लिए जहर का पान करता है, सुखो की प्राप्ति की इच्छा से भयकर दुःखो के जाल की रचना करता है। मगर उसे जान पडता है, मानो वह दुःखो से दूर होता जाता है—यह आत्म-भ्रान्ति है।

अन्त मे एक ठोकर लगती है। जिसके लिए खून का पसीना वनाया, वही लक्ष्मी लात मार कर अलग जा खडी होती है। जिस सतान के सौभाग्य का अनुभव करके फूले न समाते थे, आज वही सतान हृदय के मर्म स्थान पर हजारो चोटें मारकर न जाने किस ओर चल देती है। वियोग का वज्र ममता के शैल-शिखर को कभी-कभी चूर्ण-विचूर्ण कर डालता है। ऐसे समय मे यदि पुण्योदय हुआ तो आंखो का पर्दा दूर हो जाता है और जगत् का वास्तविक स्वरूप एक वीभत्स नाटक की तरह नजर आने लगता है। वह देखता है—आह! कैसी भीषण अवस्था है। ससार के प्राणी मृग-मरीचिका के पीछे दौड रहे हैं, हाथ कुछ आता नही। "अर्था न सन्ति न च मुञ्चति मां दुराशा" मिथ्या आकाक्षाएँ पीछा नही छोडती और आकाक्षाओ के अनुकूल अर्थ की कभी प्राप्ति नही होती।

ससार मे दु खो का क्या ठिकाना है ? प्रात काल जो राजसिंहासन पर आसीन थे, दोपहर होते ही वें दर-दर के भिखारी देखें जाते हैं। जहाँ अभी रगरेलियाँ उड़ रही थी, वही क्षणभर मे हाय-हाय की चीत्कार हृदय को चीर डालती है। ठीक ही कहा है—

"काहू घर पुत्र जायो, काहू के वियोग आयो,
काहू राग-रंग काहू रोआ-रोई परी है।"

गर्भवास की विकट वेंदना, व्याधियो की घमा-चौकडी, जरा-मरण की व्यथाएँ, नरक और तिर्यञ्च गति के अपरम्पार दुख ! सारा ससार मानो एक विशाल भट्टी है और प्रत्येक ससारी जीव उसमे कोयले की नांई जल रहा है !!

वास्तव मे ससार का यही सच्चा स्वरूप है। मनुष्य जब अपने आन्तरिक नेत्रो से ससार को इस अवस्था मे देख पाता है तो उसके अन्त करण मे एक अपूर्व सकल्प जागृत होता है। वह इन दु खो की परम्परा से छुटकारा पाने का उपाय खोजता है। इन दारुण आपदाओ से मुक्त होने की उसकी आन्तरिक भावना जागृत हो उठती है। जीव की इसी अवस्था को 'निर्वेद' कहते हैं। जब ससार से जीव विरक्त या विमुख बन जाता है तो वह ससार से परे—किसी और लोक की कामना करता है—मोक्ष चाहता है।

मुक्ति की कामना के वशीभूत हुआ मनुष्य किसी 'गुरु' का अन्वेषण करता । गुरुजी के चरण-शरण होकर वह उन्हे आत्म-समर्पण कर देता है। अबोध लक की भाँति उनकी अगुलियो के इशारे पर नाचता है। भाग्य से यदि सच्चे गुरु मिल गए तब तो ठीक, नही तो एक बार भट्टी से निकल कर फिर उसी भट्टी मे जा पडता है।

तब उपाय क्या है ? वे कौन से गुरु हैं जो आत्मा का ससार से निस्तार कर सकने मे सक्षम हैं ? यह प्रश्न प्रत्येक आत्महितैषी के समक्ष उपस्थित रहता है। यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन इस प्रश्न का सतोषजनक समाधान करता है और ऐसे तारक गुरुओ की स्पष्ट व्याख्या हमारे सामने उपस्थित कर देता है।

ससार मे जो मतमतान्तर उत्पन्न होते हैं, उनके मूल कारणो का यदि अन्वेषण किया जाय तो मालूम होगा कि कषाय और अज्ञान ही इनके मुख्य बीज हैं। शिव राजर्षि को अवधिज्ञान, जो कि अपूर्ण होता है, हुआ। उन्हे

साधारण मनुष्यो की अपेक्षा कुछ अधिक बोध होने लगा। वे मध्यलोक के असंख्यात द्वीप समुद्रो मे से सात द्वीप-समुद्र ही जान पाये। लेकिन उन्हे ऐसा भास होने लगा मानो वे सम्पूर्ण ज्ञान के धनी हो गये हैं और अब कुछ भी जानना शेष नही रहा। बस, उन्होने यह घोषणा कर दी कि सात ही द्वीप समुद्र हैं—इनमे अधिक नही। तात्पर्य यह है कि जब कोई व्यक्ति कुज्ञान या अज्ञान के द्वारा पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को पूर्ण रूप से नही जान पाता और साथ ही एक धर्म प्रवर्त्तक के रूप मे होने वाली प्रतिष्ठा के लोभ को सवरण भी नही कर पाता तब वह सनातन सत्य मत के विरुद्ध एक नया ही मत जनता के सामने रख देता है और भोली-भाली जनता उस भ्रममूलक मत के जाल मे फँस जाती है।

विभिन्न मतो की स्थापना का दूसरा कारण कषायोद्रेक है। किसी व्यक्ति मे कभी कषाय की बाढ़ आती है तो वह क्रोध के कारण, मान-बडाई के लिए अथवा दूसरो को ठगने के लिए या किसी लोभ के कारण, एक नया ही सम्प्रदाय बना कर खडा कर देता है। इस प्रकार अज्ञान और कषाय की करामात के कारण मुमुक्षु जनो को सच्चा मोक्षमार्ग ढूंढ निकालना अतीव दुष्कर कार्य हो जाता है। कितने ही लोग इस भूलभुलैया में पडकर ही अपने पावन मानव-जीवन को यापन कर देते हैं और कई झुंझला कर इस ओर से विमुख हो जाते हैं।

'जिन खोजा तिन पाइयाँ' की नीति के अनुसार जो लोग इस बात को भली-भांति जान लेते हैं कि सब प्रकार के अज्ञान से शून्य अर्थात् सर्वज्ञ और कषायो को समूल उन्मूलन करने वाले अर्थात् वीतराग की पदवी जिन महानुभावो ने तीव्र तपश्चरण और विशिष्ट अनुष्ठानों द्वारा प्राप्त कर ली है, जिन्होने कल्याणपथ—मोक्षमार्ग—को स्पष्ट रूप से देख लिया है, जिनकी अपार करुणा के कारण किसी भी प्राणी का अनिष्ट होना सभव नही और जो जगत् का पथ-प्रदर्शन करने के लिए अपने इन्द्रवत् स्वर्गीय वैभव को तिनके की तरह त्याग कर अकिञ्चन बने हैं, उनका बताया हुआ—अनुभूत—मोक्षमार्ग कदापि अन्यथा नही हो सकता, वह मुक्ति के मगलमय मार्ग मे अवश्य प्रवेश करता है और अन्त मे चरम पुरुषार्थ का साधन करके सिद्ध-पदवी का अधिकारी बनता है।

इन्ही पूर्वोक्त सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, वीतराग और हितोपदेशक महानुभावो को **'निग्गंठ'**, **'निग्गथ'** या **'निर्ग्रन्थ'** कहते हैं। भौतिक या आधिभौतिक परिग्रह की दुर्भेद्य ग्रथि को जिन्होने भेद डाला हो, जिनकी आत्मा पर अज्ञान या कषाय की कालिमा लेशमात्र भी नही रही हो; इसी कारण जो स्फटिक मणि से भी अधिक स्वच्छ हो गई हो, वे ही **'निर्ग्रन्थ'** पद को प्राप्त करते है।

प्रत्येक काल मे, प्रत्येक देश मे और प्रत्येक परिस्थिति मे निर्ग्रन्थो का ही उपदेश सफल और हितकारक हो सकता है। यह उपदेश सुमेरु की तरह अटल, हिमालय की तरह सताप-निवारक—शातिप्रदायक, सूर्य की तरह तेजस्वी और अज्ञानान्धकार का हरण करने वाला, चन्द्रमा की तरह पीयूष-वर्षण करने वाला और आह्लादक, सुरतरु की तरह सकल सकल्पो का पूरक, विद्युत् की तरह प्रकाशमान् और आकाश की भाँति अनादि-अनन्त और असीम है। वह किसी देशविशेष या कालविशेष की सीमाओ मे आबद्ध नही है। परिस्थितियाँ उसके पथ को प्रतिहत नही कर सकती। मनुष्य के द्वारा कल्पित कोई भी श्रेणी, वर्ण, जाति-पाति या वर्ग उसे विभक्त नही कर सकता। पुरुष हो या स्त्री, पशु हो या पक्षी, सभी प्राणियो के लिए वह सदैव समान है, सब अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उस उपदेश का अनुसरण कर सकते हैं। सक्षेप मे कहे तो यह कह सकते हैं कि निर्ग्रंथो का प्रवचन सार्व है, सार्वजनिक है, सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है और सर्वार्थसाधक है।

निर्ग्रंथो का प्रवचन आध्यात्मिक-विकास के क्रम और उसके साधनो की सम्पूर्ण और सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या हमारे सामने प्रस्तुत करता है। आत्मा क्या है ? आत्मा मे कौन-कौन सी और कितनी शक्तियाँ है ? प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाली आत्माओ की विभिन्नता का क्या कारण है ? यह विभिन्नता किस प्रकार दूर की जा सकती है ? नारकी और देवता, मनुष्य और पशु आदि की आत्माओ मे कोई मौलिक विशेपता है या वस्तुत वे समान-शक्तिशाली हैं ? आत्मा की अधस्तम अवस्था क्या है ? आत्म-विकास की चरम सीमा कहाँ विश्रात होती है ? आत्मा के अतिरिक्त परमात्मा कोई भिन्न है या नही ? यदि नही तो किन उपायो से, किन साधनाओ से आत्मा परमात्मपद पा सकता है ? इत्यादि प्रश्नो का सरल, सुस्पष्ट और सतोषप्रद समाधान हमे निर्ग्रंथ-प्रवचन मे मिलता है ? इसी प्रकार जगत् क्या है ? वह अनादि है या सादि ? आदि गहन समस्याओ का निराकरण भी हम निर्ग्रंथ-प्रवचन मे देख पाते है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि निर्ग्रंथो का प्रवचन किसी भी प्रकार की सीमाओ से आवद्ध नही है। यही कारण है कि वह ऐसी व्यापक विधियो का विधान करता है जो आध्यात्मिक दृष्टि से तो अत्युत्तम हैं ही, साथ ही उन विधानो मे से इहलौकिक—सामाजिक सुव्यवस्था के लिए सर्वोत्तम व्यवहारोपयोगी नियम भी निकलते हैं। सयम, त्याग, निष्परिग्रहता (और श्रावको के लिए परिग्रहपरिमाण) अनेकान्तवाद और कर्मादानो की त्याज्यता प्रभृति ऐसी ही कुछ विधियां हैं, जिनके न अपनाने के कारण आज समाज मे भीषण विश्रृङ्खलता दृष्टिगोचर हो रही है। निर्ग्रन्थो ने जिस मूल आशय से इन वातो का विधान किया है उस आशय को सन्मुख रखकर यदि सामाजिक विधानो की रचना की जाये तो समाज फिर हरा-भरा, सम्पन्न, सन्तुष्ट और सुखमय वन सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो इन विधानो का महत्व है ही, पर सामाजिक दृष्टि से भी इनका उससे कम महत्व नही है। सयम, उस मनोवृत्ति के निरोध करने का अद्वितीय उपाय है जिससे प्रेरित होकर समर्थ जन आमोद-प्रमोद मे समाज की सम्पत्ति को स्वाहा करते हैं। त्याग एक प्रकार के वँटवारे का रूपान्तर है। परिग्रहपरिमाण और भोगोपभोगपरिमाण, एक प्रकार के आर्थिक साम्यवाद का आदर्श हमारे सामने पेश करते हैं, जिनके लिए आज ससार का वहुत सा भाग पागल हो रहा है। विभिन्न नामो के आवरण मे छिपा हुआ यह सिद्धान्त ही एक प्रकार का साम्यवाद है। यहां पर इस विषय को कुछ अधिक लिखने का अवसर नही है—तथापि निर्ग्रन्थ-प्रवचन समाज को एक वडे और आदर्श कुटुम्व की कोटि मे रखता है, यह स्पष्ट है। इसी प्रकार अनेकान्तवाद, मतमतान्तरो की मारामारी से मुक्त होने का मार्ग निर्देश करता है और निर्ग्रंथो की अहिसा के विषय मे कुछ कहना तो पिष्टपेषण ही है। अस्तु।

निर्ग्रंथ-प्रवचन की तासीर उन्नत वनाना है। नीच से नीच, पतित से पतित, और पापी से पापी भी यदि निर्ग्रन्थ-प्रवचन की शरण मे आता है तो उसे भी वह अलौकिक आलोक दिखलाता है, उसे सन्मार्ग दिखलाता है और जैसे धाय माता गन्दे वालक को नहला-धुलाकर साफ सुथरा कर देती है उसी प्रकार यह मलीन से मलीन आत्मा के मैल को हटाकर उसे शुद्ध-विशुद्ध कर देता है। हिंसा की प्रतिमूर्त्ति, भयकर हत्यारे अर्जुनमाली का उद्धार करने वाला कौन था ? अजन जैसे चोरो को किसने तारा है ? लोक जिसकी परछाईं

से भी घृणा करता है ऐसे चाण्डाल जातीय हरिकेशी को परमादरणीय और पूज्य पद पर प्रतिष्ठित करने वाला कौन है ? प्रभव जैसे भयकर चोर की आत्मा का निस्तार करके उसे भगवान महावीर का उत्तराधिकारी बनाने का सामर्थ्य किसमे था ? इन सब प्रश्नो का उत्तर एक ही है और पाठक उसे समझ गए हैं। वास्तव मे निर्ग्रन्थ-प्रवचन पतित-पावन है, अशरण-शरण है, अनाथो का नाथ है, दीनो का बन्धु है और नारकियो को भी देव बनाने वाला है। वह स्पष्ट कहता है—

अपवित्रः पवित्रो वा, दुस्थितो सुस्थितोऽपि वा ।
य स्मरेत्परमात्मानम्, स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ॥

जिन मुमुक्षु महर्षियो ने आत्म-हित के पथ का अन्वेषण किया है उन्हे निर्ग्रन्थ-प्रवचन की प्रशात छाया का ही अन्त मे आश्रय लेना पडा है। ऐसे ही महर्षियो ने निर्ग्रन्थ-प्रवचन की यथार्थता, हितकरता और शान्ति-सतोषप्रदायकता का गहरा अनुभव करने के बाद जो उद्गार निकाले हैं वे वास्तव मे उचित ही हैं और यदि हम चाहे तो उनके अनुभवो का लाभ उठाकर अपना पथ प्रशस्त बना सकते हैं।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन : एक परिचय

जिन-देशना—आर्यावर्त्त अज्ञात अतीत काल से ऐसे महापुरुषो को उत्पन्न करता रहा है, जिन्होंने इस आधि-व्याधि-उपाधि के जाल मे जकडे हुए मानव-समूह को सत्पथ प्रदर्शित किया है। दीर्घ तपस्वी श्रमण भगवान महावीर ऐसे ही महान् आत्माओ मे से एक थे।

आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व, जब भारतवर्ष अपनी पुरातन आध्यात्मिकता के मार्ग से विमुख हो गया था, बाह्य कर्मकाण्ड की उपासना के भार से लद रहा था और प्रेम, दया, सहानुभूति, समभाव, क्षमा आदि सात्त्विक वृत्तियाँ जब जीवन मे से किनारा काट रही थी, तब भगवान् महावीर ने आगे आकर भारतीय जीवन मे एक नई क्रान्ति की थी। भगवान् महावीर ने कोरे उपदेशो से यह क्रान्ति की हो, सो बात नही है। उपदेश-मात्र से कभी कोई महान् क्रान्ति होती भी नही है।

भगवान महावीर राजपुत्र थे। उन्हे ससार मे प्राप्त हो सकने वाली सुख-सामग्री सब प्राप्त थी। मगर उन्होंने विश्व के उद्धार के हेतु समस्त भोगोपभोगो को तिनके की तरह त्याग कर अरण्य की शरण ग्रहण की। तीव्र तपश्चरण के पश्चात् उन्हे जो दिव्य ज्योति मिली उसमे चराचर विश्व अपने वास्तविक स्वरूप मे प्रतिभासित होने लगा। तब उन्होंने इस भूले-भटके ससार को कल्याण का प्रशस्त मार्ग प्रदर्शित किया। भगवान महावीर के जीवन से हमे इस महत्त्वपूर्ण बात का पता चलता है कि उन्होंने अपने उपदेश मे जो कुछ प्रतिपादन किया है वह दीर्घ अनुभव और अभ्रान्त ज्ञान की कसौटी पर कस कर खूब जाँच-पड़ताल कर कहा है। अतएव उनके उपदेशो मे स्पष्टता है असंदिग्धता है वास्तविकता है।

देशना की सार्वजनिकता—श्रमण-सस्कृति सदा से मनुष्य जाति की एकरूपता पर जोर देती आ रही है। उसकी दृष्टि मे मानव समाज को टुकडो मे विभक्त कर डालना, किसी भी प्रकार के कृत्रिम साधनो से उसमे भेदभाव की सृष्टि करना, न केवल अवास्तविक है वरन् मानव समाज के विकास के लिए भी अतीव हानिकारक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का भेद हम अपनी सामाजिक सुविधाओ के लिए करें, यह एक वात है और उनमे प्रकृति भेद की कल्पना करके उनकी आध्यात्मिकता पर उसका प्रभाव डालना दूसरी बात है। इसे श्रमण-सस्कृति सहन नही करती। यही कारण है कि भगवान महावीर के उपदेश नीच-ऊँच, ब्राह्मण-अब्राह्मण, सब के लिए समान हैं। उनका उपदेश श्रवण करने के लिए सभी श्रेणियो के मनुष्य बिना किसी भेदभाव के उनकी सेवा मे उपस्थित होते थे और अस्पर्श्य समझे जाने वाले चाण्डालो को भी महावीर के शासन मे वह गौरवपूर्ण पद-प्राप्त हो सकता था जो किसी ब्राह्मण को। जैन-शास्त्रो मे ऐसे अनेक उदाहरण अब भी मौजूद हैं जिनसे हमारे कथन की अक्षरश पुष्टि होती है।

भगवान महावीर का अनुयायीवर्ग आज ससर्ग दोष से अपने आराध्यदेव की इस मौलिक कल्पना को भूल-सा रहा है, पर युग उसे जगा रहा है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम भगवान का दिव्य सदेश प्राणी मात्र के कानो तक पहुँचावें।

सार्वकालिकता—भगवान् सर्वज्ञ थे। उनके उपदेश देशकाल आदि की सीमाओ से घिरें हुए नही हैं। वे सर्वकालीन हैं, सार्वदेशिक हैं, सार्व हैं। ससार ने जितने अशो में उन्हे भुलाने का प्रयास किया उतने ही अशो मे उसे प्रकृतिप्रदत्त प्रायश्चित्त करना पडा है। अधिक विवेचन की आवश्यकता नही—हम देख सकते हैं कि आज के युग मे जो विकट समस्याएँ हमारे सामने उपस्थित हैं, हम जिस भौतिकता के विध्वसमार्ग पर चले जा रहे हैं, उनके ति विद्वानो को असतोष पैदा हो रहा है। आखिर वे फिर जमाने को महावीर के युग मे मोड ले जाना चाहते हैं। सारा ससार रक्तपात से भयभीत होकर अहिंसादेवी के प्रसादमय अक मे विश्राम लेने को उत्सुक हो रहा है। जीवन को सयमशील और आडम्बरहीन बनाने की फिक्र कर रहा है। नीच-ऊँच की काल्पनिक दीवारो को तोडने के लिए उतारू हो गया है। यही महावीर-प्रदर्शित मार्ग है, जिस पर चले बिना मानव समूह का कल्याण नही।

महावीर के मार्ग से विमुख होकर ससार ने बहुत कुछ खोया है। पर यह प्रसन्नता की बात है कि वह फिर उसी मार्ग पर चलने की तैयारी मे है। ऐसी अवस्था मे हमे यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि इस मार्ग के पथिको के सुभीते के लिए उनके हाथ मे एक ऐसा प्रदीप दे दिया जाय जिससे वे अभ्रान्ति पूर्वक अपने लक्ष्य पर जा पहुँचें। बस, वही प्रदीप यह 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' है। कहने की आवश्यकता नही कि भगवान महावीर के इस समय उपलब्ध विशाल वाङ्मय से इसका चुनाव किया गया है, पर सक्षिप्तता की ओर भी इसमें पर्याप्त ध्यान रखा है।

अध्यात्म-प्रधानता—यह ठीक है कि भगवान महावीर ने आध्यात्मिकता मे ही जगत्-कल्याण को देखा है और उनके उपदेशो को पढने से स्पष्ट ही ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उनमे कूट-कूट कर आध्यात्मिकता भरी हुई है। उनके उपदेशो का एक-एक शब्द हमारे कानो मे आध्यात्मिकता की भावना उत्पन्न करता है। ससार के भोगोपभोगो को वहाँ कोई स्थान प्राप्त नही है। आत्मा एक स्वतत्र ही वस्तु है और इसीलिए उसके वास्तविक सुख और सवेदन आदि धर्म भी स्वतत्र हैं—परानपेक्ष हैं। अतएव जो सुख किसी बाह्य वस्तु पर अवलम्बित नही है, जिस ज्ञान के लिए पौद्गलिक इन्द्रिय आदि साधनो की आवश्यकता नही है, वही आत्मा का सच्चा सुख है, वही सच्चा-स्वाभाविक ज्ञान है। वह सुख-सवेदन, किस प्रकार, किन-किन उपायो से, किसे और कब प्राप्त हो सकता है? यही भगवान महावीर के वाङ्मय का मुख्य प्रतिपाद्य है। अतएव इनकी व्याख्या करने मे हमारे जीवन के सभी-क्षेत्रो की व्याख्या हो जाती है और उनके आधार पर नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, आदि समस्त विषयो पर प्रकाश पडता है। इसे स्पष्ट करके उदाहरणपूर्वक समझाने के लिए विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है, और हमें यहाँ प्रस्तावना की सीमा से आगे नही बढना है। पाठक 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' मे यत्र-तत्र इन विषयो की साधारण झलक भी देख सकेंगे।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन विषय-दिग्दर्शन—'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' अठारह अध्यायो मे समाप्त हुआ है। इन अध्यायो मे विभिन्न विषयो पर मनोहर, आन्तराह्लादजनक और शान्ति-प्रदायिनी सूक्तियाँ सगृहीत हैं। सुगमता से समझने के लिए यहाँ इन अध्यायो मे वर्णित वस्तु का सामान्य परिचय करा देना आवश्यक है, और वह इस प्रकार है.—

(१) समस्त आस्तिक दर्शनो की नीव आत्मा पर अवलम्बित है। ससार रूपी इस अद्‌भुत नाटक का प्रधान अभिनेता आत्मा ही है, जिसकी बदौलत भाँति-भाँति के दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव प्रथम अध्याय मे प्रारम्भ मे आत्मा सम्बन्धी सूक्तियाँ हैं। आत्मा अजर-अमर हैं, रूप, रस, गध, स्पर्श रहित होने के कारण वह अमूर्त्त है—इन्द्रियो द्वारा उसका बोध नही हो सकता। मगर वह मूर्त कर्मों से बद्ध होने के कारण मूर्त्त-सा हो रहा है। आत्मा के सुख-दु ख आत्मा पर ही आश्रित हैं। आत्मा स्वयं ही अपने दु.ख-सुखो की सृष्टि करता है। वही स्वय अपना मित्र है और स्वय शत्रु है। आत्मा जब दुरात्मा बन जाता है तो वह प्राणहारी शत्रु से भी भयकर होता है। अतएव ससार मे यदि कोई सर्वोत्कृष्ट विजय है तो वह है—अपने आप पर विजय प्राप्त करना। जो अपने आप पर विजय नही पाता किन्तु सग्राम मे लाखो मनुष्यो को जीत लेता है उसकी विजय का कोई मूल्य नही। आत्मा का स्वरूप ज्ञान-दर्शनमय है। ज्ञान से जगत् के द्रव्यो को उनके वास्तविक रूप मे देखना-जानना चाहिए। अतएव आत्मा के विवेचन के बाद नव तत्त्वो और द्रव्यो का परिचय कराया गया है।

(२) जगत् के इस अभिनय मे दूसरा भाग कर्मों का है। कर्मों के चक्कर मे पडकर ही आत्मा ससार-परिभ्रमण करता है। कर्म आठ हैं —(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अन्तराय। कर्मों के कितने भेद हैं, कितने समय तक एक बार बँधे हुए कर्म का आत्मा के साथ सम्पर्क रहता है, यह इस अध्ययन मे स्पष्ट किया गया है। कर्मों का करना हमारे अधीन है पर भोगना हमारे हाथ की बात नही। जो कर्म किए हैं, उन्हे भोगे बिना छुटकारा नही मिल सकता। बन्धु-बान्धव, मित्र, पुत्र, कलत्र आदि कोई इसमे हाथ नही बँटा सकता। मोहनीय कर्म इन सब का सरदार है। यह कर्मसैन्य का सेनापति है। जिसने इसे परास्त किया उसे अनन्त आत्मिक-साम्राज्य प्राप्त हो गया। राग और द्वेष ही दु ख के मूल हैं। अतएव मुमुक्षु जीवो को सर्वप्रथम मोहनीय कर्म से ही मोर्चा लेना चाहिए।

(३) मनुष्यभव बडी कठिनाई से मिलता है। यदि वह मिल भी जाय तो फिर सद्धर्म की प्राप्ति आदि अनुकूल निमित्तो का पा सकना और भी मुश्किल है। जिसे यह दुर्लभ निमित्त मिले हैं उन्हे प्रमाद न कर धर्माराधन करना

चाहिए। कौन जाने कब क्या हो जायगा, अत वृद्धावस्था आने से पूर्व, व्याधि होने से पहले और इन्द्रियो की शक्ति क्षीण होने से प्रथम ही धर्म का आचरण कर लेना उचित है। जो समय गया सो गया, वह वापस लौटकर आने वाला नही। धर्मात्मा का समय ही सफल होता है। धर्म वही सत्य समझना चाहिए जिसका वीतराग मुनियो ने प्रतिपादन किया है। धर्म ध्रुव है, नित्य है।

(४) आत्मा विभिन्न योनियो मे परिभ्रमण करता है। नरक गति मे उसे महान् क्लेश भोगने पडते हैं। तिर्यंच गति के दु ख प्रत्यक्ष ही हैं। मनुष्य गति मे भी विश्रान्ति नही—इसमे व्याधि, जरा, मरण आदि की प्रचुर वेदनाएँ विद्यमान हैं। देव गति भी अल्पकालीन है। इन समस्त दु खो का अन्त वे ही पुण्य-पुरुष कर सकते हैं जो धर्माराधना करके सिद्धि प्राप्त करते हैं। सिद्धि प्राप्त करने के लिए कृत-पापो का प्रायश्चित्त करना चाहिए। तपस्या, निर्लोभता, परीषह सहिष्णुता, ऋजुता, धैर्य, सवेग, निष्कामता, आदि सात्त्विक गुणो की वृद्धि करनी चाहिए। प्राणातिपात, असत्य, अदत्तादान, मैथुन, मूर्च्छा, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, पर-परिवाद आदि-आदि पापो का परित्याग करना चाहिए। असदाचरण से मुक्त और सदाचरण मे प्रवृत्त होने से मनुष्य का कर्म-लेप छूट जाता है और वह ऊर्ध्व गति करके लोक के अग्रभाग मे स्थित हो जाता है। उठना, बैठना, सोना आदि प्रत्येक क्रिया विवेक के साथ करनी चाहिए। इसी प्रकरण मे लोक-प्रचलित बाह्य क्रियाकाण्ड के विषय मे भगवान कहते हैं—

तपस्या को अग्नि बनाओ, आत्मा को अग्नि-स्थान बनाओ, योग को कड़छी करो, शरीर को ईंधन बनाओ, सयम-व्यापार रूप शान्ति-पाठ करो, तब प्रशस्त होम होता है।

हम सदा स्नान करते हैं परन्तु वह हमारे अन्त करण को निर्मल नही बनाता। बाह्य-शुद्धि से आन्तर-शुद्धि नही हो सकती। भगवान कहते हैं—

आत्मा मे प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले, शान्ति-तीर्थ धर्मरूपी सरोवर मे जो स्नान करता है वही निर्मल, विशुद्ध और ताप-हीन होता है।

(५) ज्ञान पाँच प्रकार का है—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधि-ज्ञान, (४) मन पर्यायज्ञान और (५) केवलज्ञान। अनुष्ठान करने से पहले सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है—जिसे तत्त्व ज्ञान नही वह श्रेय-अश्रेय को क्या

समझेगा ? श्रुत से ही पाप-पुण्य का—भले-बुरे का बोध होता है। जैसे ससूत्र (डोरा सहित) सुई गिर जाने के बाद फिर मिल जाती है उसी प्रकार ससूत्र (श्रुतज्ञानयुक्त) जीव ससार मे भी कष्ट नही पाता। अज्ञानी जीव दु'खो के पात्र होते हैं। वे मूढ पुरुष अनन्त ससार मे भटकते फिरते हैं। मगर बिना चारित्र के भी निस्तार नही। अनुष्ठान को जानने मात्र से दु ख का अन्त सम्भव नही है। जो कर्त्तव्यपरायण नही वें वाचनिक शक्ति से अपनी आत्मा को आश्वासन मात्र दे सकते हैं। पण्डितम्मन्य बालजीव विविध विद्याओ का स्वामी बन जाय, विद्यानुशासन सीख ले, पर इससे उसका त्राण नही हो सकता। ज्ञान प्राप्त कर लिया किन्तु शरीर या इन्द्रियो के विषयो की आसक्ति दूर न हुई तो दु ख ही होता है। अतएव सिद्धि सम्पादन करने के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र दोनो ही अनिवार्य हैं। मनुष्य को निर्ममत्त्व, निरहकार, अपरिग्रही, ठसक का त्यागी, समस्त प्राणियो पर समभावी बनना चाहिए। लाभालाभ मे, सुख-दु ख मे, जीवन-मरण मे, निन्दा-प्रशसा मे, मानापमान मे, जो समान रहता है, वही सिद्धि प्राप्त करता है।

(६) वीतराग देव हैं, सर्वथा निष्परिग्रही गुरु हैं, वीतराग द्वारा प्रतिपादित धर्म ही सच्चा है, इस प्रकार की श्रद्धा (व्यवहार) सम्यक्त्व है। परमार्थ का चिन्तन करना, परमार्थदर्शियो की शुश्रूषा करना, मिथ्यादृष्टियो की सगति त्यागना, यह सम्यक्त्वी के लिए अनिवार्य है। मिथ्यावादी-पाखण्डी, उन्मार्गगामी होते हैं। रागादि दोपो को नष्ट करने वाले वीतराग का मार्ग ही उत्तम मार्ग है। ऐसी श्रद्धा सम्यग्दृष्टि मे होनी चाहिए। सम्यक्त्व अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व के विना सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र नही हो सकता। सम्यक्त्व होते ही ज्ञान-चारित्र सम्यक् हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टि को शका, आकाक्षा आदि दोपो से रहित होना चाहिए। मिथ्या-दृष्टियो को आगामी भव मे भी बोधि की प्राप्ति दुर्लभ होती है—सम्यक्दृष्टियो को सुलभ होती है। सम्यग्वोधि का लाभ करने के लिए जिन-वचनो मे अनुराग करना चाहिए, ऊपर वताए हुए दोपो से दूर रहना चाहिए।

(७) पांच महाव्रत, कर्म का नाश करने वाले हैं। पन्द्रह कर्मादानो[1] का

---

१ कर्मादानो का विवरण सामाजिक साम्यवाद की दृष्टि से भी पढ़िए। समाज की सुलगती हुई समस्याओं का यह पुराना समाधान है।

परित्याग करना चाहिए। दर्शन, व्रत, आदि पडिमाएँ पालनीय हैं। प्राणी-मात्र पर क्षमा-भाव रखना और अपने अपराधो की उनसे क्षमा-प्रार्थना करना आवश्यक है। इस प्रकार का आचार-परायण गृहस्थ भी देवगति प्राप्त करता है। छाल और चर्म के वस्त्र धारण करने वाला, नग्न रहने वाला, मूँड मुँडाने वाला, अर्थात् किसी भी वेष को धारण करने से ही कोई गुरु नही बन सकता और न उससे त्राण हो सकता है। सूर्यास्त के बाद और सूर्योदय के पहले, भोजन आदि की इच्छा भी नही करनी चाहिए। असली ब्राह्मण कौन है? इसका उत्तर इस अध्याय मे (देखो गाथा १५ से) बडी सुन्दरता से दिया है। यह प्रकरण अन्ध-श्रद्धालुओ की आँखे खोलने के लिए बहुत उपयोगी है।

(८) इस अध्याय मे विषयो की विषमता का विवेचन है। ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्रियो एवं नपुंसको के समीप नही रहना चाहिए। स्त्रियो सम्बन्धी बातचीत, स्त्रियो की चेष्टाओ को देखना, परिमाण से अधिक भोजन करना, शरीर को सिंगारना आदि बाते विष के समान हैं। बिल्लियो के बीच जैसे चूहा कुशल नही रह सकता उसी प्रकार स्त्रियो के बीच ब्रह्मचारी भी नही रह सकता। और की तो बात ही क्या, जिसके हाथ-पैर कटे हुए हो, नाक-कान बडौल हो, ऐसी सौ वर्ष की बुढिया का सम्पर्क भी नही रखना चाहिए। जैसे मक्खी कफ मे फँस जाती है उसी प्रकार विषयी जीव भोगो मे फँसता है। परन्तु यह विषय शल्य के समान हैं, दृष्टिविष साँप के समान हैं। ये अल्पकाल सुख देकर अत्यन्त दु खदाई हैं, अनर्थों की खान हैं। बडी कठिनाई से धीर वीर पुरुष इनसे अपना पिण्ड छुडा पाते हैं। इस प्रकार इस अध्याय मे ब्रह्मचर्य सम्बन्धी और भी अनेक मार्मिक और प्रभावशाली वर्णन ब्रह्मचारी के पढने योग्य हैं।

(९) इस अध्याय मे भी विशिष्ट चारित्र का वर्णन है। सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, अत किसी की हिंसा करना घोर पाप है। असत्य भाषण से विश्वासपात्रता नष्ट हो जाती है। बिना आज्ञा लिए छोटी से छोटी वस्तु भी नहीं लेनी चाहिए। मैथुन अधर्म का मूल है, अनेक दोषो का जनक है, अत निर्ग्रन्थो को इससे सर्वथा बचना चाहिए। लोभ-मूर्च्छा का त्याग करना चाहिए। यदि साधु स्वाद सामग्री को सन्निधि मे रख लेता है तो वह साधुत्व से पतित होकर गृहस्थ की कोटि मे आ जाता है। साधु यद्यपि निर्ममत्वभाव से वस्त्र पात्र आदि रखते है फिर भी वह परिग्रह नही है, क्योकि उनमे मूर्च्छा

नहीं है। ज्ञातपुत्र ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है। पृथ्वीकाय आदि का आरम्भ साधु को सर्वथा ही न करना चाहिए। सच्चा साधु, आदर-सत्कार से अपना गौरव नही समझता और अनादर से क्रुद्ध नही होता। वह समभावी होता है। जाति, कुल, ज्ञान या चारित्र का उसे अभिमान नही होना चाहिए। उच्च जाति या उच्च कुल से ही त्राण नही होता, यह बात साधु सदा ध्यान मे रखते हैं। वह अपनी प्रशसा की अभिलाषा नही करता। किसी के प्रति राग-द्वेष नही करता, निर्भय और निष्कषाय होकर विचरता है।

(१०) जल्दी क्या है ? आज नही कल कर डालेंगे, ऐसा विचार करने वाले, प्रमादी जीवो की आँखे खोलने के लिए यह अध्याय बडे काम की चीज है। भगवान, गौतम स्वामी को सम्बोधन करके, बडे ही मार्मिक शब्दो मे क्षण मात्र का भी प्रमाद न करने के लिए उपदेश करते हैं—गौतम ! पेड पर लगा हुआ पका पत्ता अचानक गिर जाता है, ऐसे ही यह मानव-जीवन अचानक समाप्त हो जाता है, इसलिए पलभर भी प्रमाद न कर। कुश की नोक पर लटकता हुआ ओस का बूंद ज्यादा नही ठहरता, इसी प्रकार यह मानव-जीवन चिरस्थायी नही है, अत. पलभर प्रमाद न कर। गौतम ! जीवन अल्पकालीन है और वह भी नाना विघ्नो से परिपूर्ण है। इसलिए पूर्वकृत रज-कर्मों को धो डालने मे पलभर भी विलम्ब न कर। मानव-जीवन, बहुत लम्बे समय मे, बडी ही कठिनाई से प्राप्त होता है। अत एक भी पल का प्रमाद न कर। पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय मे गया हुआ जीव असख्यात काल तक और वनस्पतिकायगत जीव अनन्त काल तक वहाँ रह सकता है, इसलिए तू प्रमाद न कर। द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव इस अवस्था मे उत्कृष्ट असख्य काल रह जाता है, इसलिए प्रमाद न कर। पचेन्द्रिय अवस्था मे लगातार सात-आठ भव रह सकता है, अत प्रमाद न कर। इसी प्रकार देव और नरक गति मे भी पर्याप्त समय रह जाता है। जब इन समस्त पर्यायो से बचकर किसी प्रकार असीम पुण्योदय से मनुष्य भव मिल जाय तो आर्यत्व की प्राप्ति होना दुर्लभ है, क्योकि बहुत से मनुष्य, अनार्य भी होते हैं। फिर पूर्ण पचेन्द्रियाँ, उत्तम धर्म की श्रुति, श्रद्धा, धर्म की स्पर्शना, आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। शरीर जीर्ण होता जा रहा है, बाल सफेद हो रहे हैं, इन्द्रियो की शक्ति क्षीण होती जाती है, अत पलभर भी प्रमाद न कर। चित्त का उद्वेग, विशूचिका, विविध प्रकार के आकस्मिक उत्पात आदि जीवन

को घेरे हुए हैं, शरीर समय-समय नष्ट हो रहा है, अत: गौतम ! प्रमाद न कर। गौतम ! जल में कमल की नाई निर्लेप बन जा, स्नेह-वृत्ति को छोड़। धन-धान्य, स्त्री-पुत्र आदि का परित्याग करके तू ने अनगारिता धारण की है, उनकी पुन. कामना न करना। इस प्रकार का प्रभावशाली वर्णन पढ़कर कौन क्षणभर के लिए भी विरक्त न हो जायगा। यह सम्पूर्ण अध्याय नित्य प्रातःकाल पठन करने की चीज है।

(११) इस अध्याय मे भाषण के नियम प्रतिपादन किये गए हैं—(१) सत्य होने पर भी जो बोलने के अयोग्य हो, (२) जिसमे कुछ भाग सत्य और कुछ असत्य हो—ऐसी मिश्र भाषा, (३) जो सर्वथा असत्य हो, ऐसी तीन प्रकार की भाषा बुद्धिमानो को नही बोलनी चाहिए। व्यवहारभाषा, अनवद्यभाषा, कर्कशता तथा सदेहरहित भाषा बोलनी चाहिए। काने को काना कहना आदि दिल दुखाने वाली भाषा भी नही बोलनी चाहिए। क्रोध, मान, माया, लोभ, भय आदि से भी नही बोलना चाहिए। बिना पूछे, दूसरे बोलने वाले के बीच मे न बोले, चुगली न करे।

मनुष्य कांटो को सह सकता है पर वाक्-कण्टको का सहन करना कठिन है, पर उत्तम मनुष्य वही है जो इन्हे सह ले। कांटे थोडी देर तक दु:ख देते हैं, पर वाक्कण्टक वैर को बढ़ाने वाले, महान् भय-जनक होते हैं। इनका निकलना कठिन होता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष-परोक्ष मे अवर्णवाद करने वाली, भविष्य की निश्चयात्मक, अप्रियकारिणी भाषा भी न बोलनी चाहिए। बुरी प्रवृत्ति का त्याग कर अच्छी प्रवृत्ति मे लीन रहना चाहिए। जनपद आदि सम्बन्धिनी भाषा सत्य है। क्रोधादिपूर्वक बोली हुई भाषा असत्य है। यह लोक देवनिर्मित है, ब्रह्म-प्रयुक्त है, ईश्वरकृत है, प्रकृति द्वारा बनाया गया है, स्वयम्भू ने रचा है, अत अशाश्वत है, ऐसा कहना असत्य है—अर्थात् लोक अनादिनिधन है, किसी का बनाया हुआ नही है।

(१२) इस अध्याय में लेश्या-सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। कषाय से अनुरञ्जित मन, वचन, काय की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। कर्मबन्ध मे यह कारण है। इसके ६ भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। कैसे-कैसे परिणाम वाले को कौन-कौनसी लेश्या समझनी चाहिए, इसका अच्छा निरूपण इस अध्याय मे है। मुमुक्षु जीवों को इस वर्णन के आधार पर सदा अपने व्यापारो की जाँच करते रहना चाहिए और अप्रशस्त लेश्याओ से बचना चाहिए।

(१३) इस अध्याय मे कषाय का वर्णन है। क्रोध आदि चार कषाय पुनर्जन्म की जड को हरा-भरा करते हैं। क्रोधी, मानी और मायावी जीव को कही शान्ति नही मिलती। लोभ पाप का बाप है। कैलाश पर्वत के समान असख्य पर्वत सोने-चांदी के खडे कर दिये जावे तो भी लोभी को सतोष न होगा। क्योकि तृष्णा आकाश की तरह अनन्त है। तीन लोक की सारी पृथ्वी, धनधान्य, आदि तमाम विभूति यदि एक ही आदमी को प्रदान कर दी जाय तो भी लोभी को वह पर्याप्त न होगी। अतएव कामनाओ का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। क्रोध, मान, माया और लोभ से ससार मे भ्रमण करना पडता है। क्रोध प्रीति को, मान विनय को, माया मित्रता को और लोभ सब सद्‌गुणो को नाश करता है। अतएव क्षमा आदि सद्‌गुणो से इन्हे दूर करना चाहिए। कौन जाने परलोक है भी या नही ? परलोक किसने देखा है ? विषय-सुख प्राप्त हो गया है तो अप्राप्त के लिए प्राप्त को क्यो त्यागा जाय ? ऐसा विचार करने वाले बालजीव अन्त मे दु खो के गड्‌ढे मे गिरते हैं। जैसे सिह मृग को पकड लेता है वैसे ही मृत्यु मनुष्य को धर दबाती है। यह मेरा है, यह तेरा है, यह करना है, यह नही करना है, ऐसा विचारते-विचारते ही मौत अचानक आ जाती है और यह जीवन समाप्त हो जाता है।

(१४) जागो, जागो, जागते क्यो नही हो ? परलोक मे धर्म-प्राप्ति होना कठिन है। क्या बूढे, क्या बालक, सभी को काल हर ले जाता है। कुटुम्बीजनो की ममता मे फँसे हुए लोगो को ससार मे भ्रमण करना पडता है। कृतकर्मों से भोगे बिना पिंड नही छूटता। जो क्रोधादि पर विजय प्राप्त करते हैं, किसी प्राणी का हनन नही करते—वही वीर हैं। गृहस्थी मे रहकर भी यदि मनुष्य संयम मे प्रवृत्त होता है तो उसे देवगति मिलती है। अतएव बोध को ाप्त करो। कछुए की भाँति सहृतेन्द्रिय बनो। मन को अपने अधीन करो। ापा सम्बन्धी दोषो का परित्याग करो। समस्त ज्ञान का सार और सारा विज्ञान अहिंसा मे ही समाप्त हो जाता है। अत ज्ञानीजन हिंसा से सदा बचते हैं। कर्म से कर्म का नाश नही होता अकर्म—अहिंसा आदि—से ही कर्मों का क्षय होता है। मेधावी निष्कपाय पुरुप पापो से दूर ही रहते हैं। इन्द्रभूति ! तत्त्वज्ञानी वह है जो क्या बालक और क्या वृद्ध—सभी को आत्मवत् दृष्टि से देखता है और प्रमाद-रहित हो सयम को स्वीकार करता है।

(१५) मन अत्यन्त दुर्जय है। मन ही बध और मोक्ष का प्रधान कारण

है। जिस महात्मा ने मन को जीत लिया, समझ लीजिए उसने इन्द्रियों और कषायों को भी जीत लिया। मन, साहसी, भयकर, दुष्ट अश्व की भाँति चारों तरफ दौड़ता रहता है। इसे धर्म-शिक्षा से अधीन करना चाहिए। सयमी का कर्त्तव्य है कि वह मन को असत्य विषयों से दूर रखे, सरभ समारभ मे इसकी प्रवृत्ति न होने दे।

पराधीनता के कारण जो लोग वस्त्र, गध या अलकार आदि को नहीं भोगते वे त्यागी की परमोच्च पदवी पर प्रतिष्ठित नही हो सकते। बल्कि स्वाधीनता से प्राप्त कान्त और प्रिय भोगों को जो लात मार देता है, वही त्यागी कहलाता है। समभाव से विचरने पर भी यदि चपल मन कदाचित् सयम मार्ग से बाहर निकल जाय तो धार्मिक भावनाओं से उसे पुन यथास्थान लाना चाहिए।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह एव रात्रिभोजन से विरत जीव ही आस्रव से बच सकता है। किसी तालाब मे नया पानी प्रवेश न करे और पुराना पानी उलीच कर या सूर्य की धूप से सुखा डाला जाय तो तालाब निर्जल हो जाता है, इसी भाँति नवीन कर्मों के आस्रव को रोक देने से तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करने से जीव निष्कर्म हो जाता है। निर्जरा प्रधानत तपस्या से होती है। तपस्या दो प्रकार की है —(१) बाह्य और (२) आभ्य-न्तर। इनका विवेचन प्रसिद्ध है। रूप-गृद्ध जीव पतग की भाँति शब्द-गृद्ध जीव हिरन की तरह, गध-गृद्ध जीव सर्प की भाँति, रसलोलुप मत्स्य की नाई, और स्पर्श-सुखाभिलाषी ग्राह-ग्रस्त भैंसे की तरह अकाल-मरण-दुख को प्राप्त होता है।

(१९) एकान्त मे स्त्री के पास नही खड़ा होना चाहिए और न उनसे बातचीत करनी चाहिए। कभी वस्त्र मिले या न मिले, पर दुखी नही होना चाहिए। यदि कोई निन्दा करे तो मुनि कोप न करे, कोप करने से वह उन्ही दास जीवों जैसा हो जायगा। श्रमण को कोई ताड़ना करे तो विचारना चाहिए कि आत्मा का नाश कदापि नही हो सकता। अपने जीवन को समाप्त करने के लिए शस्त्र का उपयोग करना, विष भक्षण करना, जल या अग्नि मे प्रवेश करना, जन्म-मरण की—ससार की—वृद्धि करना है।

पाँच कारणों से जीव को शिक्षा नही मिलती—क्रोध मान, आलस्य, रोग और प्रमाद से। आठ गुणों से शिक्षा की प्राप्ति होती है —हँसोड़ न होना,

सयमी होना, मर्मभेदी वचन न कहना, निश्शील न होना, निर्दोष शीलयुक्त होना, अलोलुपता, क्रोधहीनता, सत्यरति ।

मुनि को तत्र-मत्र करना, स्वप्न के फल बताना, हाथ की रेखाएँ देखकर शुभ-अशुभ कहना इत्यादि पचडो मे नही पडना चाहिए। पापी घोर नरक मे पडते हैं और आर्य—श्रेष्ठ-धर्मी दिव्य गति प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार इस अध्याय मे मुनि-जीवन के योग्य विविध शिक्षाएँ सगृहीत की गई हैं, जिनका उल्लेख विस्तारभय से यहाँ नही किया जा सकता।

(१७) ऊपर अनेक स्थलो पर सदाचार का फल देवगति और असदाचार का फल नरकगति कहा गया है। इस अध्याय मे इन दोनो गतियों का स्वरूप बताया गया है। नरक गति कहाँ है, उसका स्वरूप क्या है, कौन जीव वहाँ जाते हैं, कैसी-कैसी भीषण वेदनाएँ नारकी जीवो को सहनी पडती हैं आदि-आदि वातें जानने के लिए इस अध्याय को अवश्य पढना चाहिए। इसी प्रकार देवगति का भी इसमे सुन्दर वर्णन है और अन्त मे कहा गया है कि समुद्र और पानी की एक बूँद मे जितना अन्तर है उतना ही अन्तर देवगति और मनुष्य गति के सुखो मे है।

(१८) शिष्य को गुरु के प्रति, पुत्र को पिता के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, तथा मुक्ति क्या है, यही विषय मुख्य रूप से इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है।

विनीत शिष्य वह है जो अपने गुरु की आज्ञा पाले, उनके समीप रहे, उनके इशारो मे मनोभावो को ताडकर वर्ते। गुरुजी कभी शिक्षा दें तो कुपित न हो, शान्ति से स्वीकार करे। अज्ञानियो से ससर्ग न रखे। अपने आसन पर बैठे-बैठे गुरुजी से कोई प्रश्न न पूछे बल्कि सामने आकर, हाथ जोडकर, विनय के साथ पूछे। गुरुजी कदाचित् नर्म-गर्म बात कहे तो अपना लाभ समझकर उसे स्वीकार करे। इसके विपरीत जो क्रोधी होता है, कलहोत्पादक वातें करता है, शास्त्र पढकर अभिमान करता है, मित्रो पर भी कुपित होता है असबद्ध भाषी एव घमण्डी होता है, तथा अन्यान्य ऐसे ही दोषो से दूषित होता है वह अविनीत शिष्य कहलाता है। विनीत शिष्य मे पन्द्रह गुणो का होना आवश्यक है। (गाथा ६—१२) अनन्तज्ञान प्राप्त करके भी अपने गुरु की सेवा अवश्य करनी चाहिए। कदाचित् आचार्य कुपित हो जाएँ तो उन्हे मना लेना चाहिए।

समस्त दु खो का अन्त मुक्ति मे होता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र एव सम्यक्तप, मोक्ष का मार्ग है। इन चारो मे से किसी एक की कमी होने से मोक्ष प्राप्त नही होता। मुक्तात्मा जीव समस्त लोकालोक को जानते देखते हैं। वे पुन ससार मे नही आते क्योकि कर्म सर्वथा नष्ट होने पर पुन उत्पन्न नही होते, जैसे सूखा हुआ पेड। दग्ध बीज से जैसे अकुर नहीं होते उसी प्रकार कर्म वीज के जल जाने से भव-अकुर नही उत्पन्न होता। मुक्त जीव लोकाकाश के अग्रभाग मे प्रतिष्ठित हो जाते हैं। मुक्त जीव अमूर्त्त हैं, अनन्तज्ञान-दर्शनधारी हैं, अनुपम सुख-सम्पन्न होते हैं।

नूतन सस्करण

निर्ग्रन्थ प्रवचन का मूल भाग प्राकृत—अर्धमागधी भाषा मे है। भगवान महावीर ने इसे ही अपने उपदेशो का माध्यम बनाया था। यद्यपि मध्यकाल मे प्राकृत भाषा का पठन-पाठन कुछ कम हो गया और सस्कृत भाषा ज्ञान ही विद्वत्ता की कसौटी मान ली गई। प्राकृत जो जनभाषा थी, उसे समझने के लिए भी सस्कृत का सहारा लिया जाने लगा। सस्कृत पडितो की इस कठिनाई को ध्यान में रखकर यहाँ भी मूल गाथाओ की सस्कृत छाया, साथ मे अन्वयार्थ और भावानुवाद दिया गया है जिसे विद्वान और साधारण पढा-लिखा व्यक्ति भी हृदयगम कर सकता है और प्रतिदिन के स्वाध्याय से आत्मा को जागृत एव कल्याणमार्गानुगामी वना सकता है।

☆

विषय-सूची

॥ णमो सिद्धाण ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(प्रथम अध्याय)

षट् द्रव्य निरूपण

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—नो इदियग्गेज्झ अमुत्तभावा ।
अमुत्तभावा वि अ होइ निच्चो ॥
अज्झत्थहेउ निययस्स बधो ।
ससारहेउ च वयति बध ॥१॥

छाया—नो इन्द्रियग्राह्योऽमूर्तभावात्,
अमूर्तभावादपि च भवति नित्य ।
अध्यात्महेतुर्नियतस्य बन्धः,
ससारहेतु च वदन्ति बन्धम् ॥१॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! यह आत्मा (अमुत्तभावा) अमूर्त होने से (इदियगेज्झ) इन्द्रियो द्वारा ग्रहण करने योग्य (नो) नही है। (अ) और (वि) निश्चय ही (अमुत्तभावा) अमूर्त होने से आत्मा (निच्चो) हमेशा (होइ) रहती है (अस्स) इसका (बधो) बध जो है, वह (अज्झत्थहेउ) आत्मा के आश्रित रहे हुए मिथ्यात्व कषायादि हेतु (च) और (बध) बधन को (नियमस्स) निश्चय ही (ससारहेउ) ससार का हेतु (वयति) कहा है।

भावार्थ—हे गौतम ! यह आत्मा अमूर्त अर्थात् वर्ण, गध, रस स्पर्श-रहित होने से इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य नही हो सकता है। और अरूपी

न कोई इसे पकड ही सकता है । जो अमूर्त्त अर्थात् अरूपी है, वह हमेशा अविनाशी है, सदा के लिए कायम रहने वाला है। जो शरीरादि से इसका बधन होता है, वह प्रवाह से आत्मा मे हमेशा से रहे हुए मिथ्यात्व-अव्रत आदिकषायो का ही कारण है । जैसे आकाश अमूर्त्त है, पर घटादि के कारण से आकाश घटाकाश के रूप मे दिख पडता है । ऐसे ही आत्मा को भी अनादि काल के प्रवाह से मिथ्यात्वादि के कारण शरीर के बधन-रूप मे समझना चाहिए । यही बधन ससार मे परिभ्रमण करने का साधन है ।

मूलः—अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नदणवण ॥२॥

छायाः—आत्मानदीवैतरणी, आत्मा मे कूटशाल्मली ।
आत्मा कामदुघा धेनु, आत्मा मे नन्दन वनम् ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इद्रभूति ! (अप्पा) यह आत्मा ही (वेयरणी) वैतरणी (नई) नदी के समान है । (मे) मेरी (अप्पा) आत्मा (कूडसामली) कूटशाल्मली के वृक्षरूप है । और यही (अप्पा) आत्मा (कामदुहा) कामदुग्धा रूप (धेणु) गाय है । और यही मेरी (अप्पा) आत्मा (नदण) नदन (वण) वन के समान है ।

भावार्थः—हे गौतम ! यही आत्मा वैतरणी नदी के समान है । अर्थात् इसी आत्मा को अपने कृत् कार्यों से वैतरणी नदी मे गोता खाने का मौका मिलता है । वैतरणी नदी का कारणभूत यह आत्मा ही है । इसी तरह यह आत्मा नरक मे रहे हुए कूटशाल्मली वृक्ष के द्वारा होने वाले दु खो का कारणभूत है और यही आत्मा अपने शुभ कृत्यो के द्वारा कामदुग्धा गाय के समान है, अर्थात् इच्छित सुखो की प्राप्ति कराने मे यही आत्मा कारणभूत है । और यही आत्मा नदनवन के समान है अर्थात् स्वर्ग और मुक्ति के सुख सम्पन्न कराने मे अपने आप ही स्वाधीन है ।

मूलः—अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥३॥

छायाः—आत्मा कर्त्ता विकर्त्ता च, दु खानां च सुखाना च ।
आत्मा मित्रममित्र च, दु प्रस्थितः सुप्रस्थित. ॥३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति, (अप्पा) यह आत्मा ही (दुहाण) दुःखों का (य) और (सुहाण) सुखों का (कत्ता) उत्पन्न करने वाला है (य) और (विकत्ता) नाश करने वाला है। (अप्पा) यह आत्मा ही (मित्त) मित्र है (च) और (अमित्त) शत्रु है। और यही आत्मा (दुप्पट्ठिय) दुराचारी और (सुपट्ठिओ) सदाचारी है।

भावार्थः—हे गौतम ! यही आत्मा दुःखों एवं सुखों के साधनों का कर्त्ता-रूप है और उन्हें नाश करने वाला भी यही आत्मा है। यही शुभ कार्य करने से मित्र के समान है और अशुभ कार्य करने से शत्रु के सदृश हो जाता है सदाचार का सेवन करने वाला और दुष्ट आचार में प्रवृत्त होने वाला भी यही आत्मा है।

मूलः—न तं अरी कंठछेत्ता करेइ।
जं से करे अप्पणिया दुरप्पया ॥
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते।
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥४॥

छाया—न तदरिः कण्ठच्छेत्ता करोति,
यत्तस्य करोत्यात्मीया दुरात्मता।
स ज्ञास्यति मृत्युमुखं तु प्राप्तः,
पश्चादनुतापेन दया विहीनः ॥४॥

शब्दार्थ—हे इन्द्रभूति ! (से) वह (अप्पणिया) अपना (दुरप्पया) दुराचरणशील आत्मा ही है जो (तं) उस अनर्थ को (करे) करता है। (तं) जिसे (कंठछेत्ता) कंठ का छेदन करने वाला (अरी) शत्रु भी (न) नहीं (करेइ) करता है (तु) परन्तु (से) वह (दयाविहूणो) दयाहीन दुष्टात्मा (मच्चुमुहं) मृत्यु के मुंह में (पत्ते) प्राप्त होने पर (पच्छाणुतावेण) पश्चात्ताप करके (नाहिई) अपने [illegible] को जानेगा।

भावार्थ—हे गौतम ! यह दुष्टात्मा जैसे-जैसे अनर्थों को कर बैठता है वैसा अनर्थ कण्ठ शत्रु भी नहीं कर सकता है। क्योंकि शत्रु तो एक ही बार

अपने शस्त्र से दूसरो के प्राण हरण करता है परन्तु यह दुष्टात्मा तो ऐसा अनर्थ कर बैठता है कि जिसके द्वारा अनेक जन्म-जन्मान्तरो तक मृत्यु का सामना करना पडता है । फिर दयाहीन उस दुष्टात्मा को मृत्यु के समय पश्चात्ताप करने पर अपने कृत्य कार्यो का भान होता है कि अरे हा ! इस आत्मा ने कैसे कैसे अनर्थ कर डाले हैं ।

मूल—अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोऐ परत्थ य ॥५॥

छाया·—आत्मा चैव दमितव्य· आत्मा हि खलु दुर्दमः ।
आत्मादान्त सुखी भवति, अस्मिल्लोके परत्र च ॥५॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (अप्पा) आत्मा (चेव) ही (दमेयव्वो) दमन करने योग्य है । (हु) क्योकि (अप्पा) आत्मा (खलु) निश्चय (दुद्दमो) दमन करने मे कठिन है । तभी तो (अप्पा) आत्मा को (दतो) दमन करता हुआ (अस्सि) इस (लोए) लोक मे (य) और (परत्थ) परलोक मे (सुही) सुखी (होइ) होता है ।

भावार्थ.—हे गौतम ! क्रोधादि के वशीभूत होकर आत्मा उन्मार्ग-गामी होता है। उसे दमन करके अपने काबू मे करना योग्य है । क्योकि निज आत्मा को दमन करना अर्थात् विषय-वासनाओ से उसे पृथक् करना महान कठिन है और जब तक आत्मा को दमन न किया जाय तब तक उसे सुख नही मिलता है । इसलिए हे गौतम ! आत्मा को दमन कर, जिससे इस लोक और परलोक मे सुख प्राप्त हो ।

मूल.—वरं मे अप्पा दतो, सजमेण तवेण य ।
माहं परेहिं दम्मंतो, बधणेहि वहेहि य ॥६॥

छाया:—वरं मे आत्मादान्तः, सयमेन तपसा च ।
माऽहं परैर्दमित·, बन्धनैर्वधैश्च ॥६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! आत्माओ को विचार करना चाहिए कि (मे) मेरे द्वारा (सजमेण) सयम (य) और (तवेण) तपस्या करके (अप्पा) आत्मा

अपने शस्त्र से दूसरो के प्राण हरण करता है परन्तु यह दुष्टात्मा तो ऐसा अनर्थ कर बैठता है कि जिसके द्वारा अनेक जन्म-जन्मान्तरो तक मृत्यु का सामना करना पडता है। फिर दयाहीन उस दुष्टात्मा को मृत्यु के समय पश्चात्ताप करने पर अपने कृत्य कार्यों का भान होता है कि अरे हा ! इस आत्मा ने कैसे कैसे अनर्थ कर डाले है।

मूल—अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोऐ परत्थ य ॥५॥

छाया—आत्मा चैव दमितव्यः आत्मा हि खलु दुर्दमः।
आत्मादान्त सुखी भवति, अस्मिल्लोके परत्र च ॥५॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (अप्पा) आत्मा (चेव) ही (दमेयव्वो) दमन करने योग्य है। (हु) क्योकि (अप्पा) आत्मा (खलु) निश्चय (दुद्दमो) दमन करने मे कठिन है। तभी तो (अप्पा) आत्मा को (दतो) दमन करता हुआ (अस्सि) इस (लोए) लोक मे (य) और (परत्थ) परलोक मे (सुही) सुखी (होइ) होता है।

भावार्थ—हे गौतम ! क्रोधादि के वशीभूत होकर आत्मा उन्मार्ग-गामी होता है। उसे दमन करके अपने काबू मे करना योग्य है। क्योकि निज आत्मा को दमन करना अर्थात् विषय-वासनाओ से उसे पृथक् करना महान कठिन है और जब तक आत्मा को दमन न किया जाय तब तक उसे सुख नही मिलता है। इसलिए हे गौतम ! आत्मा को दमन कर, जिससे इस लोक और परलोक मे सुख प्राप्त हो।

मूल—वरं मे अप्पा दतो, सजमेण तवेण य।
माह परेहिं दम्मतो, बधणेहि वहेहि य ॥६॥

छाया—वर मे आत्मादान्तः, सयमेन तपसा च।
माऽह परैर्दमितः, बन्धनैर्वधैश्च ॥६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! आत्माओ को विचार करना चाहिए कि (मे) मेरे द्वारा (सजमेण) सयम (य) और (तवेण) तपस्या करके (अप्पा) आत्मा

का (दतो) दमन करना (वर) प्रधान कर्त्तव्य है। नही तो (ह) मैं (परेहि) दूसरो से (वधणेहिं) बन्धनो द्वारा (य) और (वहेहिं) ताडना द्वारा (दम्मतो) दमन (मा) कही न हो जाऊँ।

भावार्थ—हे गौतम ! प्रत्येक आत्मा को विचार करना चाहिए कि अपने ही आत्मा द्वारा सयम और तप से आत्मा को वश मे करना श्रेष्ठ है। अर्थात् स्ववश करके आत्मा को दमन करना श्रेष्ठ है। नही तो फिर विषय वासना सेवन के बाद कही ऐसा न हो कि उसके फल उदय होने पर इसी आत्मा को दूसरो के द्वारा वधन आदि से अथवा लकडी, चाबुक, भाला बरछी आदि के घाव सहने पडें।

मूलः—जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणेज्ज अप्पाणं, एस सो परमो जओ ॥७॥

छाया—य सहस्र सहस्राणाम्, सग्रामे दुर्जये जयेत्।
एक जयेदात्मान, एपस्तस्य परमो जय· ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जो) जो कोई मनुष्य (दुज्जए) जीतने मे कठिन ऐसे (सगामे) सग्राम मे (सहस्साण) हजार का (सहस्स) हजार गुणा अर्थात् दश लक्ष सुभटो को जीत ले उससे भी वलवान (एग) एक (अप्पाण) अपनी आत्मा को (जिणेज्ज) जीते (एस) यह (सो) उसका (जओ) विजय (परमो) उत्कृष्ट है।

भावार्थ—हे गौतम ! जो मनुष्य युद्ध मे दश लक्ष सुभटो को जीत ले उस से भी कही अधिक विजय का पात्र वह है जो अपनी आत्मा मे स्थित काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और माया आदि विषयो के साथ युद्ध करके और इन सभी को पराजित कर अपनी आत्मा को काबू मे कर ले।

मूल—अप्पाणमेव जुज्झाहि, कि ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेवमप्पाण, जइत्ता सुहमेहए ॥८॥

छाया·—आत्मानैव युध्यस्व किं ते युद्धेन बाह्यत।
आत्मानैवात्मान जित्वा सुखमेधते ॥८॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (अप्पाणमेव) आत्मा के साथ ही (जुज्झाहि) युद्ध कर (ते) तुझे (बज्झओ) दूसरो के साथ (जुज्झेण) युद्ध करने से (किं) क्या पडा है ? (अप्पाणमेव) अपने आत्मा ही के द्वारा (अप्पाण) आत्मा को (जइत्ता) जीतकर (सुह) सुख को (एहए) प्राप्त करता है ।

भावार्थ—हे गौतम अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करके क्रोध, मद, मोहादि पर विजय प्राप्त कर । दूसरो के साथ युद्ध करने से कर्म-वन्ध के सिवाय आत्मिक लाभ कुछ भी नही होता है । अत· जो अपनी आत्मा द्वारा अपने ही मन को जीत लेता है उसी को सुख प्राप्त होता है ।

मूल:—पंचिदियाणि कोहृ, माणं मायं तहेव लोभं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जिय ।।९।।

छाया·—पचेन्द्रियाणि क्रोधं मान माया तथैव लोभञ्च ।
दुर्जयं चैवात्मान सर्वमात्मनि जिते जितम् ।।९।।

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (दुज्जय) जीतने मे कठिन ऐसे (पचिंदियाणि) पाँचो इन्द्रियो के विषय (कोह) क्रोध (माण) मान (माय) कपट (तहेव) वैसे ही (लोभ) तृष्णा (चेव) और भी मिथ्यात्व अव्रतादि (च) और (अप्पाण) मन ये (सव्व) सर्व (अप्पे) आत्मा को (जिए) जीतने पर (जिय) जीते जाते हैं ।

भावार्थ—हे गौतम ! जो भी पाँचो इन्द्रियो के विषय और क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मन ये सब के सब दुर्जयी है । तथापि अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेने से इन पर अनायास ही विजय प्राप्त की जा सकती है ।

मूल—सरीरमाहु नाव त्ति; जीवो वुच्चइ नाविओ ।
ससारो अण्णवो वुत्तो; जं तरंति महेसिणो ।।१०।।

छाया:—शरीरमाहुनौरिति जीव उच्यते नाविक: ।
ससारोऽर्णव उक्त:, यस्तरन्ति महर्षयय: ।।१०।।

अन्वयार्थः— हे इन्द्रभूति ! यह (ससारो) ससार (अण्णवो) समुद्र के समान (वुत्तो) कहा गया है । इस मे (सरीर) शरीर (नाव) नौका के सदृश है । (आहु त्ति) ऐसा ज्ञानी जनो ने कहा है । और उसमे (जीवो) आत्मा

(नाविओ) नाविक के तुल्य बैठ कर तिरनेवाला है। (वुच्चइ) ऐसा कहा गया है। अत (ज) इस ससार समुद्र को (महेसिणो) ज्ञानी जन (तरति) तिरते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! इस ससार रूप समुद्र के परले पर जाने के लिए यह शरीर नौका के समान है जिस मे बैठ कर आत्मा नाविक-रूप हो कर ससार-समुद्र को पार करता है।

मूल—नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
वीरिय उवओगो य, एय जीवस्स लक्खण ॥११॥

छाया:—ज्ञानञ्च दर्शनञ्चैव चारित्रञ्च तपस्तथा।
वीर्यमुपयोगश्च एतज्जीवस्य लक्षणम् ॥११॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (नाण) ज्ञान (च) और (दसण) दर्शन (चेव) और (चारित्त) चारित्र (च) और (तवो) तप (तहा) तथा प्रकार की (वीरिय) सामर्थ्य (य) और (उवओगो) उपयोग (एय) यही (जीवस्स) आत्मा का (लक्खण) लक्षण है।

भावार्थ.—हे गौतम ! ज्ञान, दर्शन, तप, क्रिया और सावधानीपन, उपयोग ये सब जीव (आत्मा) के लक्षण हैं।

मूल—जीवाऽजीवा य बधो य पुण्णं पावासवो तहा।
सवरो निज्जरा मोक्खो, सतेए तहिया नव ॥१२॥

छाया:—जीवा अजीवाश्च बन्धश्च पुण्य पापाश्रवौ तथा।
सवरो निर्जरा मोक्ष सन्त्येते तथ्या नव ॥१२॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जीवाऽजीवाय) चेतन और जड (य) और (बधो) कर्म (पुण्ण) पुण्य (पावासवो) पाप और आश्रव (तहा) तथा (सवरो) सवर (निज्जरा) निर्जरा (मोक्खो) मोक्ष (एए) ये (नव) नौ पदार्थ (तहिया) तथ्य (सति) कहलाते हैं।

भावार्थ:—हे गौतम ! **जीव** जिसमे चेतना हो। **जड़** चेतनारहित। **बंध** जीव और कर्म का मिलना। **पुण्य** शुभ कार्यों द्वारा सचित शुभ कर्म। **पाप** दुष्कृत्य-जन्य कर्म वध। **आस्रव कर्म** आने का द्वार। **संवर** आते हुए कर्मों का रुकना।

निर्जरा एकदेश कर्मों का क्षय होना। **मोक्ष** सम्पूर्ण पाप पुण्यो से छूट जाना। एकान्त सुख के भागी होना मोक्ष है।

मूल·—धम्मो अहम्मो आगासं कालो पोग्गलजंतवो।
एस लोगु त्ति पण्णत्तो जिणेहि वरदंसिहिं ॥१३॥

छाया:—धर्मोऽधर्म आकाश काल· पुद्गलजन्तव·
एषो लोक इति प्रज्ञप्तो जिनैर्वरदर्शिभि: ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (धम्मो) धर्मास्तिकाय (अहम्मो) अधर्मास्तिकाय (आगास) आकाशास्तिकाय (कालो) समय (पोग्गलजतवो) पुद्गल और जीव (एस) ये छ· ही द्रव्य वाला (लोगु त्ति) लोक है। ऐसा (वरदसिहिं) केवल ज्ञानी (जिणेहिं) जिनेश्वरो ने (पण्णत्तो) कहा है।

भावार्थ:—हे गौतम ! **धर्मास्तिकाय** जो जीव और जड पदार्थों को गमन करने मे सहायक हो। **अधर्मास्तिकाय** जीव और अजीव पदार्थों की गति को अवरोध करने मे कारणभूत एक द्रव्य है। और आकाश, समय, जड और चेतन इन छ द्रव्यो को ज्ञानियो ने लोक कहकर पुकारा है।

मूल:—धम्मो अहम्मो आगासं, दव्व इक्किक्कमाहियं।
अणंताणि य दव्वाणि य; कालो पुग्गलजतवो ॥१४॥

छाया·—धर्मोऽधर्म आकाश द्रव्य एकैकमाख्यातम्।
अनन्तानि च द्रव्याणि च काल: पुद्गलजन्तव: ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (धम्मो) धर्मास्तिकाय (अहम्मो) अधर्मास्तिकाय (आगास) आकाशास्तिकाय (दव्व) इन द्रव्यो को (इक्किक्क) एक-एक द्रव्य (आहिय) कहा है (य) और (कालो) समय (पुग्गलजतवो) पुद्गल एव जीव इन द्रव्यो को (अणताणि) अनत कहा है।

भावार्थः—हे शिष्य ! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनो एक-एक द्रव्य हैं। जिस प्रकार आकाश के टुकडे नही होते, वह एक अखण्ड द्रव्य है, ऐसे ही धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय भी एक-एक ही अखण्ड द्रव्य हैं और पुद्गल अर्थात्—वर्ण, गध, रस, स्पर्श वाला एक मूर्त्त द्रव्य तथा जीव और (अतीत व अनागत की अपेक्षा) समय, ये तीनो अनत द्रव्य माने गये है।

छायाः—एकत्वञ्च पृथक्त्वञ्च सख्या सस्थानमेव च।
सयोगाश्च विभागाश्च पर्यवाणा तु लक्षणम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (पज्जवाण) पर्यायो का (लक्खण) लक्षण यह है, कि (एगत्त) एक पदार्थ के ज्ञान का (च) और (पुहत्त) उससे भिन्न पदार्थ के ज्ञान का (च) और (सखा) सख्या का (य) और (सठाणमेव) आकार-प्रकार का (सजोगा) एक से दो मिले हुओ का (य) और (विभागाय) यह इससे अलग है, ऐसा ज्ञान जो करावे वही पर्याय है।

भावार्थ—हे गौतम ! पर्याय उसे कहते हैं, कि यह अमुक पदार्थ है, यह उससे अलग है, यह अमुक सख्या वाला है, इस आकार-प्रकार का है, यह इतने समूह रूप मे है, आदि ऐसा जो ज्ञान करावे वही पर्याय है। अर्थात् जैसे यह मिट्टी थी पर अब घट रूप मे है। यह घट, उस घट से पृथक् रूप मे है। यह घट सख्या वद्ध है। पहले नम्बर का है या दूसरे नम्बर का है। यह गोल आकार का है। यह चौरस आकार का है। यह दो घट का समूह है। यह घट उस घट से भिन्न है। आदि ऐसा ज्ञान जिसके द्वारा हो वही पर्याय है।

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

ॐ
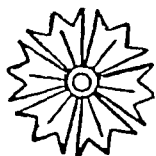
निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(द्वितीय अध्याय)

कर्म निरूपण

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूल —अठ्ठ कम्माइ वोच्छामि, आणुपुव्वि जहक्कम ।
जेहि बद्धो अय जीवो, ससारे परियत्तइ ॥१॥

छाया:—अष्ट कर्माणि वक्ष्यामि, आनुपूर्व्या यथाक्रमम् ।
यैर्बद्धोऽय जीव ससारे परिवर्त्तते ॥१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अट्ठ) आठ (कम्माइ) कर्मों को (आणुपुव्वि) अनुपूर्वी से (जहक्कम) क्रमवार (वोच्छामि) कहता हूं, सो सुनो । क्योकि (जेहिं) उन्ही कर्मों से (बद्धो) बँधा हुआ (अय) यह (जीवो) जीव (ससारे) ससार मे (परियत्तइ) परिभ्रमण करता है ।

भावार्थ —हे गौतम ! जिन कर्मों को करके यह आत्मा ससार मे परिभ्रमण करता है, जिनके द्वारा ससार का अन्त नही होता है, वे कर्म आठ प्रकार के होते हैं । मैं उन्हे क्रमपूर्वक और उनके स्वरूप के साथ कहता हूँ ।

मूल:—नाणस्सावरणिज्ज, दसणावरणं तहा ।
वेयणिज्ज तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥२॥
नामकम्म च गोय च, अन्तरायं तहेव य ।
एवमेयाइ कम्माइ, अट्ठेव उ समासओ ॥३॥

छाया —ज्ञानस्यावरणीय, दर्शनावरण तथा ।
वेदनीय तथा मोह, आयु कर्म तथैव च ॥२॥
नामकर्म च गोत्र च, अन्तराय तथैव च ।
एवमेतानि कर्माणि, अष्टौ तु समासत ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (नाणस्सावरणिज्ज) ज्ञानावरणीय (तहा) तथा (दसणावरण) दर्शनावरणीय (तहा) तथा (वेयणिज्ज) वेदनीय (मोह) मोहनीय (तथैव) और (आउकम्म) आयुष्कर्म (च) और (नामकम्म) नाम कर्म (च) और (गोय) गोत्र कर्म (य) और (तहेव) वैसे ही (अन्तराय) अन्तराय कर्म (एवमेयाइ) इस प्रकार ये (कम्माइ) कर्म (अट्ठेव) आठ ही (समासओ) सक्षेप से ज्ञानी जनो ने कहे हैं। (उ) पादपूर्ति अर्थ मे ।

भावार्थ—हे गौतम ! जिसके द्वारा बुद्धि एव ज्ञान की न्यूनता हो, अर्थात् ज्ञान वृद्धि मे बाधा रूप जो हो उसे ज्ञानावरणीय अर्थात् ज्ञान शक्ति को दवाने वाला कर्म कहते हैं। पदार्थ को साक्षात्कार करने मे जो बाधा डाले, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहा गया है। सम्यक्त्व और चारित्र को जो विगाडे, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। जन्म-मरण मे जो सहाय्यभूत हो वह आयुष्कर्म माना गया है। जो शरीर आदि के निर्माण का कारण हो वह नामकर्म है। जीव को जो लोकप्रतिष्ठित या लोकनिंद्य कुलो मे उत्पन्न करने का कारण हो वह गोत्र-कर्म कहलाता है। जीव की अनन्त शक्ति प्रकट होने मे जो बाधक रूप हो वह अन्तराय कर्म कहलाता है। इस प्रकार ये आठो ही कर्म इस जीव को चौरासी के चक्कर मे डाल रहे हैं।

मूलः—नाणावरण पचविह, सुय अभिणिबोहिय ।
ओहिनाण च तइय, मणनाण च केवल ॥४॥

छायाः—ज्ञानावरण पञ्चविध, श्रुतमाभिनिबोधिकम् ।
अवधिज्ञान च तृतीय, मनोज्ञान च केवलम् ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इद्रभूति ! (नाणावरण) ज्ञानावरणीय कर्म (पचविह) पांच प्रकार का है। (सुय) श्रुत-ज्ञानावरणीय (आभिणिवोहिय) मतिज्ञानावरणीय (तइय) तीसरा (ओहिनाण) अवधिज्ञानावरणीय (च) और (मणनाण) मन. पर्यव ज्ञानावरणीय (च) और (केवल) केवल ज्ञानावरणीय ।

भावार्थ—हे गौतम ! अब ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद कहते हैं। सो सुनो—(१) **श्रुतज्ञानावरणीय** कर्म जिसके द्वारा ज्ञान शक्ति आदि मे न्यूनता हो। (२) **मतिज्ञानावरणीय** जिसके द्वारा समझने की शक्ति कम हो (३) **अवधिज्ञानावरणीय**—जिसके द्वारा परोक्ष की बातें जानने मे न आवें (४) **मनः पर्यवज्ञानावरणीय**—दूसरो के मन की बात जानने मे शक्तिहीन होना (५) **केवलज्ञानावरणीय**—सपूर्ण पदार्थों के जानने मे असमर्थ होना। ये सब ज्ञानावरणीय कर्म के फल हैं।

हे गौतम ! अब ज्ञानवरणीय कर्म बँधने के कारण बताते है, सो सुनो (१) ज्ञानी के द्वारा बताये हुए तत्त्वो को असत्य बताना, तथा उन्हे असत्य सिद्ध करने की चेष्टा करना (२) जिस ज्ञानी के द्वारा ज्ञान-प्राप्त हुआ है उसका नाम तो छिपा देना और मैं स्वय ज्ञानवान् बना हूँ ऐसा वातावरण फैलाना (३) ज्ञान की असारता दिखलाना कि इस मे पडा ही क्या है ? आदि कह कर ज्ञान एव ज्ञानी की अवज्ञा करना (४) ज्ञानी से द्वेष भाव रखते हुए कहना कि वह पढा ही क्या है ? कुछ नही। केवल ढोंगी होकर ज्ञानी होने का दम भरता है, आदि कहना। (५) जो कुछ सीख पढ रहा हो उसके काम मे बाधा डालने मे हर तरह से प्रयत्न करना (६) ज्ञानी के साथ अण्ट सण्ट बोल कर व्यर्थ का झगडा करना। आदि-आदि कारणो से ज्ञानावरणीय कर्म बधता है।

मूलः—निद्दा तहेव पयला; निद्दानिद्दा य पयलपयला य।
तत्तो अ थाणगिद्धी उ, पंचमा होइ नायव्वा ॥५॥
चक्खुमचक्खू ओहिस्स, दसओ केवले अ आवरणे।
एवं तु नवविगप्प, नायव्वं दंसणावरणं ॥६॥

छायाः—निद्रा तथैव प्रचला, निद्रानिद्रा च प्रचलाप्रचला च।
ततश्च स्त्यानगृद्धिस्तु, पञ्चमा भवति ज्ञातव्या ॥५॥
चक्षुरचक्षुरवधेः दर्शने केवले चावरणे।
एव तु नवविकल्प, ज्ञातव्य दर्शनावरणम् ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (निद्दा) सुख पूर्वक सोना (तहेव) से ही (पयला) बैठे बैठे ऊँघना (य) और (निद्दानिद्दा) खूब गहरी नीद (य) और (पयल-

पयला) चलते चलते ऊंघना (तत्तो अ) और इसके वाद (पचमा) पाँचवी (थाण गिद्दी उ) स्त्यानगृद्धि (होई) है, ऐसा (नायव्वा) जानना चाहिये (चक्खुमचक्खू ओहिस्स) चक्षु, अचक्षु, अवधि के (दसण) दर्शन मे (य) और (केवले) केवल मे (आवरणो) आवरण (एव तु) इस प्रकार (नवविगप्प) नौ भेदवाला (दसणा-वरण) दर्शनावरणीय कर्म (नायव्व) जानना चाहिए।

भावार्थ—हे गौतम ! अव दर्शनावरणीय कर्म के भेद वतलाते है, सो सुनो—(१) अपने आप ही नियत समय पर निद्रा से युक्त होना (२) बैठे-बैठे ऊंघना अर्थात् नीद लेना (३) नियत समय पर भी कठिनता से जागना (४) चलते-फिरते ऊंघना और (५) पाँचवां भेद वह है कि सोते-सोते छ मास वीत जाना। ये सब दर्शनावरणीय कर्म के फल हैं। इसके सिवाय चक्षु मे दृष्टिमान्द्य या अन्धेपन आदि प्रकार की हीनता का होना तथा सुनने की, सूंघने की, स्वाद लेने की, स्पर्श करने की, शक्ति मे हीनता, अवधिदर्शन होने मे और केवलदर्शन अर्थात् सारे जगत को हाथ की रेखा के समान देखने मे रुकावट का आना ये सव के सब नौ प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म के फल हैं। हे आर्य्य ! जव आत्मा दर्शनावरणीय कर्म बांध लेता है तव वह जीव ऊपर कहे हुए फलो को भोगता है। अब हम यह बतावेंगे कि जीव किन कारणो से दर्शनावरणीय कर्म बांध लेता है। सुनो—(१) जिसको अच्छी तरह से दीखता है उसे भी अन्धा और काना कह कर उसके साथ विरुद्धता करना (२) जिसके द्वारा अपने नेत्रो को फायदा पहुँचा हो और न देखने पर भी उस पदार्थ का सच्चा ज्ञान हो गया हो उस उपकारी के उपकार को भूल जाना (३) जिसके पास चक्षु ज्ञान से परे अवधिदर्शन है, जिस अवधिदर्शन से वह कई भव अपने एव औरो के देख लेता है। उसकी अवज्ञा करते हुए कहना कि, क्या पडा है ऐसे अवधि-दर्शन मे ? (४) जिसके दुखते हुए नेत्रो के अच्छे होने मे वा चक्षुदर्शन से भिन्न अचक्षु के द्वारा होने वाले दर्शन मे और अवधिदर्शन के प्राप्त होने मे एव सारे जगत् को हस्तामलकवत् देखने वाले के दर्शन प्राप्त करने मे रोडा अटकाना। (५) जिसको नही दिखता है, या कम दिखता है, उसे कहे कि इस धूर्त को अच्छा दिखता है तो भी अन्धा बन बैठा है। चक्षुदर्शन से भिन्न अचक्षुदर्शन का जिसे अच्छा बोध नहीं होता हो उसे कहे कि जान-बूझ कर मूर्ख बन रहा है। और जो अवधिदर्शन से भव-भवान्तर के कर्त्तव्यो को जान लेता है उसको कहे कि ढोगी है। एव केवलदर्शन से जो प्रत्येक वात का स्पष्टीकरण करता है

उसे असत्यवादी कह कर जो दर्शन के साथ द्वेष भाव करता है। (६) इसी प्रकार चक्षुदर्शनीय, अवधिदर्शनीय एव केवलदर्शनीय के साथ जो ठण्ठा करता है।

मूल.—वेयणीय पि दुविह, सायमसाय च आहियं।
सायस्स उ बहू भेया, एमेव आसायस्स वि ॥७॥

छाया—वेदनीयमपि च द्विविध, सातमसात चाख्यातम्।
सातस्य तु बहवो भेदा, एवमेवासातस्यापि ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (वेयणीय पि) वेदनीय कर्म भी (सायमसाय च) साता और असाता (दुविह) यो दो प्रकार का (आहिय) कहा गया है। (सायस्स) साता के (उ) तो (वहू) वहुत से (भेया) भेद हैं। (एमेव आसायस्स वि) इसी प्रकार असातावेदनीय के भी अनेक भेद हैं।

भावार्थः—हे गौतम! फुसी, फोडे, ज्वर, नेत्रशूल आदि अन्य तथा सब शारीरिक और मानसिक वेदना असातावेदनीय कर्म के फल हैं। इसी तरह निरोग रहना, चिन्ता, फिक्र कुछ भी नही होना ये सब शारीरिक और मानसिक सुख सातावेदनीय कर्म के फल हैं। हे गौतम! यह जीव साता और असाता वेदनीय कर्मों को किन-किन कारणो से बाँध लेता है, सो अब सुनो—धन सम्पत्ति आदि ऐहिक सुख प्राप्ति होने का कारण सातावेदनीय का बधन है। यह साता वेदनीय वन्धन इस प्रकार बँधता है—दो इन्द्रिय वाले लट गिण्डोरे आदि, तीन इन्द्रिय वाले मकोडे, चीटियाँ, जूं आदि, चार इन्द्रिय वाले मक्खी, मच्छर, भौंरे आदि, पाँच इन्द्रिय वाले हाथी, घोडे, बैल, ऊँट, गाय, बकरी आदि तथा वनस्पति स्थित जीव और पृथ्वी, पानी, आग, वायु इन जीवो को किसी प्रकार से कष्ट और शोक नही पहुँचाने से एवं इनको झुराने तथा अश्रुपात न कराने से, लात-घूंसा आदि से न पीटने से परितापना न देने से, इनका विनाश न करने से, सातावेदनीय का बध होता है।

शारीरिक और मानसिक जो दु ख होता है, वह असाता वेदनीय कर्म के उदय के कारणो से होता है। वे कारण यो है—प्राण, भूत, जीव और सत्व इस चारो ही प्रकार के जीवो को दु ख देने से, फिक्र उत्पन्न कराने से, झुराने से, अश्रुपात करने से, पीटने से, परिताप व कष्ट उत्पन्न कराने से असातावेदनीय का बध होता है।

मूल—मोहणिज्ज पि दुविह, दंसणे चरणे तहा ।
दसणे तिविह वुत्त, चरणे दुविह भवे ॥८॥

छाया:—मोहनीयमपि द्विविध, दर्शने चरणे तथा ।
दर्शने त्रिविधमुक्त, चरणे द्विविध भवेत् ॥८॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (मोहणिज्ज पि) मोहनीय कर्म भी (दुविह) दो प्रकार का है। (दंसणे) दर्शनमोहनीय (तहा) तथा (चरणे) चारित्रमोहनीय । अब (दंसणे) दर्शनमोहनीय कर्म (तिविह) तीन प्रकार का (वुत्त) कहा गया है और (चरणे) चारित्रमोहनीय (दुविह) दो प्रकार का (भवे) होता है ।

भावार्थ—हे गौतम ! मोहनीय कर्म जो जीव बाँध लेता है उसको अपने आत्मीय गुणो का भान नही रहता है। जैसे मदिरापान करने वाले को कुछ भान नही रहता उसी तरह मोहनीय कर्म के उदय काल मे जीव को शुद्ध श्रद्धा और क्रिया की तरफ भान नही रहता है। यह कर्म दो प्रकार का कहा गया है। एक दर्शनमोहनीय, दूसरा चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन प्रकार और चारित्रमोहनीय के दो प्रकार होते हैं ।

मूल:—सम्मत्त चेव मिच्छत्त, सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिण्णि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दसणे ॥९॥

छाया—सम्यक्त्व चैव मिथ्यात्वं, सम्यक्मिथ्यात्वमेव च ।
एतास्तिस्र· प्रकृतय मोहनीयस्य दर्शने ॥९॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (मोहणिज्जस्स) मोहनीय सम्बन्ध के (दंसणे) दर्शन मे अर्थात् दर्शनमोहनीय मे (एयाओ) ये (तिण्णि) तीन प्रकार की (पयडीओ) प्रकृतियाँ हैं (सम्मत्त) सम्यक्त्वमोहनीय (मिच्छत्त) मिथ्यात्वमोहनीय (य) और (सम्मामिच्छत्तमेव) सम्यक्मिथ्यात्वमोहनीय ।

भावार्थ:—हे गौतम ! दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार का होता है। एक तो सम्यक्त्वमोहनीय, इसके उदय में जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति तो हो जाती है, परन्तु मोहवश ऐहिक सुख के लिए तीर्थंकरो की माला जपता रहता है। यह सम्यक्त्वमोहनीय कर्म का उदय है। यह कर्म जब तक बना रहता है तब

तक उस जीव के मोक्ष के सान्निव्यकारी क्षायिक गुण को रोक रखता है। और दूसरा मिथ्यात्वमोहनीय है। इसके उदयकाल मे जीव सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझता है। और इसीलिए वह जीव चौरासी का अन्त नही पा सकता। चौदहवें गुणस्थान के वाद ही जीव की मुक्ति होती है। पर यह मिथ्यात्वमोहनीय कर्म जीव को दूसरे गुणस्थान पर भी पैर नही रखने देता। तव फिर तीसरे और चौथे गुणस्थान की तो वात ही निराली है। इसका तीसरा भेद सममिथ्यात्वमोहनीय है। इसके उदयकाल मे जीव सत्य-असत्य दोनो को वरावर समझता है। जिससे हे गौतम! यह आत्मा न तो समदृष्टि की श्रेणी मे है और न पूर्ण रूप से मिथ्यात्वी ही है। अर्थात् यह कर्म जीव को तीसरे गुणस्थान के ऊपर देखने तक का भी मौका नही देता है। हे गौतम! अव हम चारित्रमोहनीय के भेद कहते है, सो सुनो।

मूलः—चरित्तमोहण कम्म, दुविह त विआहियं।
कसायमोहणिज्जं तु, नोकसायं तहेव य ॥१०॥

छायाः—चारित्रमोहन कर्म द्विविध तद् व्याख्यातम्।
कषायमोहनीय तु, नोकषाय तथैव च ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (चरित्तमोहण) चारित्रमोहनीय (कम्म) कर्म (त) वह (दुविह) दो प्रकार का (विआहिय) कहा गया है। (कसायमोहणिज्ज) क्रोधादि रूप भोगने मे आवे वह (य) और (तहेव) वैसे ही (नोकसायं) क्रोधादि के सहचारी हास्यादिक के रूप मे जो अनुभव मे आवे।

भावार्थः—हे गौतम! ससार के सम्पूर्ण वैभव को त्यागना चारित्र धर्म कहलाता है, उस चारित्र के अंगीकार करने मे जो रोडा अटकाता है उसे चारित्र मोहनीय कहते है। यह कर्म दो प्रकार का है। एक तो क्रोधादि रूप मे अनुभव मे आता है। अर्थात् हसना, भोगो मे आनन्द मानना, धर्म मे नाराजी आदि होना वह इस कर्म का उदय है।

मूलः—सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं, नवविह वा, कम्मं च नोकसायजं ॥११॥

मूल—मोहणिज्ज पि दुविह, दसणे चरणे तहा ।
दसणे तिविह वुत्त, चरणे दुविहं भवे ॥८॥

छायाः—मोहनीयमपि द्विविध, दर्शने चरणे तथा ।
दर्शने त्रिविधमुक्त, चरणे द्विविध भवेत् ॥८॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (मोहणिज्ज पि) मोहनीय कर्म भी (दुविह) दो प्रकार का है। (दंसणे) दर्शनमोहनीय (तहा) तथा (चरणे) चारित्रमोहनीय । अब (दंसणे) दर्शनमोहनीय कर्म (तिविह) तीन प्रकार का (वुत्त) कहा गया है और (चरणे) चारित्रमोहनीय (दुविह) दो प्रकार का (भवे) होता है ।

भावार्थ—हे गौतम ! मोहनीय कर्म जो जीव बांध लेता है उसको अपने आत्मीय गुणो का भान नही रहता है। जैसे मदिरापान करने वाले को कुछ भान नही रहता उसी तरह मोहनीय कर्म के उदय काल मे जीव को शुद्ध श्रद्धा और क्रिया की तरफ भान नही रहता है। यह कर्म दो प्रकार का कहा गया है। एक दर्शनमोहनीय, दूसरा चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन प्रकार और चारित्रमोहनीय के दो प्रकार होते हैं।

मूलः—सम्मत्त चेव मिच्छत्त, सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिण्णि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दसणे ॥९॥

छाया—सम्यक्त्व चैव मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्वमेव च ।
एतास्तिस्र प्रकृतय मोहनीयस्य दर्शने ॥९॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (मोहणिज्जस्स) मोहनीय सम्बन्ध के (दंसणे) दर्शन मे अर्थात् दर्शनमोहनीय मे (एयाओ) ये (तिण्णि) तीन प्रकार की (पयडीओ) प्रकृतियाँ हैं (सम्मत्त) सम्यक्त्वमोहनीय (मिच्छत्त) मिथ्यात्वमोहनीय (य) और (सम्मामिच्छत्तमेव) सम्यक्मिथ्यात्वमोहनीय ।

भावार्थः—हे गौतम ! दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार का होता है। एक तो सम्यक्त्वमोहनीय, इसके उदय मे जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति तो हो जाती है, परन्तु मोहवश ऐहिक सुख के लिए तीर्थंकरो की माला जपता रहता है। यह सम्यक्त्वमोहनीय कर्म का उदय है। यह कर्म जब तक बना रहता है तब

तक उस जीव के मोक्ष के सान्निध्यकारी क्षायिक गुण को रोक रखता है। और दूसरा मिथ्यात्वमोहनीय है। इसके उदयकाल मे जीव सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझता है। और इसीलिए वह जीव चौरासी का अन्त नही पा सकता। चौदहवें गुणस्थान के बाद ही जीव की मुक्ति होती है। पर यह मिथ्यात्वमोहनीय कर्म जीव को दूसरे गुणस्थान पर भी पैर नही रखने देता। तब फिर तीसरे और चौथे गुणस्थान की तो बात ही निराली है। इसका तीसरा भेद समिथ्यात्वमोहनीय है। इसके उदयकाल मे जीव सत्य-असत्य दोनो को बराबर समझता है। जिससे हे गौतम! यह आत्मा न तो समदृष्टि की श्रेणी मे है और न पूर्ण रूप से मिथ्यात्वी ही है। अर्थात् यह कर्म जीव को तीसरे गुणस्थान के ऊपर देखने तक का भी मौका नही देता है। हे गौतम! अब हम चारित्रमोहनीय के भेद कहते हैं, सो सुनो।

मूलः—चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तं विआहियं।
कसायमोहणिज्जं तु, नोकसायं तहेव य ॥१०॥

छायाः—चारित्रमोहनं कर्म द्विविधं तद् व्याख्यातम्।
कषायमोहनीयं तु, नोकषायं तथैव च ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (चरित्तमोहणं) चारित्रमोहनीय (कम्मं) कर्म (तं) वह (दुविहं) दो प्रकार का (विआहियं) कहा गया है। (कसायमोहणिज्जं) क्रोधादि रूप भोगने मे आवे वह (य) और (तहेव) वैसे ही (नोकसायं) क्रोधादि के सहचारी हास्यादिक के रूप मे जो अनुभव मे आवे।

भावार्थः—हे गौतम! ससार के सम्पूर्ण वैभव को त्यागना चारित्र धर्म कहलाता है, उस चारित्र के अंगीकार करने मे जो रोडा अटकाता है उसे चारित्र मोहनीय कहते है। यह कर्म दो प्रकार का है। एक तो क्रोधादि रूप मे अनुभव मे आता है। अर्थात् हसना, भोगो मे आनन्द मानना, धर्म मे नाराजी आदि होना वह इस कर्म का उदय है।

मूलः—सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं, नवविहं वा, कम्मं च नोकसायजं ॥११॥

छाया:—षोडशविधभेदेन कर्म तु कषायजम् ।
सप्तविध नवविध वा, कर्म च नोकषायजम् ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (कसायज) क्रोधादिक रूप से उत्पन्न होने वाला (कम्म तु) कर्म तो (भेएण) भेदों करके (सोलसविह) सोलह प्रकार का है। (च) और (नोकसायज) हास्यादि से उत्पन्न होने वाला जो (कम्म) कर्म है वह (सत्तविह) सात प्रकार का (वा) अथवा (नवविह) नौ प्रकार का माना गया है।

भावार्थः—हे गौतम ! क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले कर्म के सोलह भेद हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, यों अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और सज्वलन के चार-चार भेदो के साथ इसके सोलह भेद हो जाते हैं और नोकषाय से उत्पन्न होने वाले कर्म के सात अथवा नौ भेद कहे गये हैं। वे यो हैं—हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद यो सात भेद होते हैं और वेद के उत्तरभेद (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद) लेने से नौ भेद हो जाते हैं। अत्यन्त क्रोध, मान, माया और लोभ करने से तथा मिथ्या श्रद्धा मे रत रहने से और अव्रती रहने से मोहनीय कर्म का बध होता है।

हे गौतम ! अब हम आयुष्यकर्म का स्वरूप बतलावेंगे।

मूल—नेरइयतिरिक्खाउ, मणुस्साउ तहेव य।
देवाउअ चउत्थ तु, आउकम्म चउव्विह ॥१२॥

छाया:—नैरयिकतिर्यगायु मनुष्यायुस्तथैव च।
देवायुश्चतुर्थं तु आयु कर्म चतुर्विधम् ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (आउकम्म) आयुष्य कर्म (चउव्विह) चार प्रकार का है (नेरइयतिरिक्खाउ) नरकायुष्य तिर्यंचायुष्य (तहेव) वैसे ही (मणुस्साउ) मनुष्यायुष्य (य) और (चउत्थ तु) चौथा (देवाउअ) देवायुष्य है।

भावार्थ—हे गौतम ! आत्मा को नियत समय तक एक ही शरीर मे रोक रखने वाले कर्म को आयुष्य कर्म कहते हैं। यह आयुष्य कर्म चार प्रकार का है—(१) नरक योनि मे रखने वाला नरकायुष्य, (२) तिर्यंच योनि मे रखने वाला तिर्यंचायुष्य, (३) मनुष्य योनि मे रखने वाला मनुष्यायुष्य व योनि मे रखने वाला देवायुष्य कहलाता है।

तक उस जीव के मोक्ष के सान्निध्यकारी क्षायिक गुण को रोक रखता है। और दूसरा मिथ्यात्वमोहनीय है। इसके उदयकाल मे जीव सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझता है। और इसीलिए वह जीव चौरासी का अन्त नहीं पा सकता। चौदहवें गुणस्थान के वाद ही जीव की मुक्ति होती है। पर यह मिथ्यात्वमोहनीय कर्म जीव को दूसरे गुणस्थान पर भी पैर नही रखने देता। तब फिर तीसरे और चौथे गुणस्थान की तो वात ही निराली है। इसका तीसरा भेद सममिथ्यात्वमोहनीय है। इसके उदयकाल मे जीव सत्य-असत्य दोनो को वरावर समझता है। जिससे हे गौतम! यह आत्मा न तो समदृष्टि की श्रेणी मे है और न पूर्ण रूप से मिथ्यात्वी ही है। अर्थात् यह कर्म जीव को तीसरे गुणस्थान के ऊपर देखने तक का भी मौका नही देता है। हे गौतम! अब हम चारित्रमोहनीय के भेद कहते हैं, सो सुनो।

मूलः—चरित्तमोहण कम्म, दुविह त विआहियं।
कसायमोहणिज्जं तु, नोकसायं तहेव य ॥१०॥

छायाः—चारित्रमोहन कर्म द्विविधं तद् व्याख्यातम्।
कषायमोहनीय तु, नोकषायं तथैव च ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (चरित्तमोहण) चारित्रमोहनीय (कम्म) कर्म (त) वह (दुविह) दो प्रकार का (विआहिय) कहा गया है। (कसायमोहणिज्ज) क्रोधादि रूप भोगने मे आवे वह (य) और (तहेव) वैसे ही (नोकसायं) क्रोधादि के सहचारी हास्यादिक के रूप मे जो अनुभव मे आवे।

भावार्थः—हे गौतम! ससार के सम्पूर्ण वैभव को त्यागना चारित्र धर्म कहलाता है, उस चारित्र के अंगीकार करने मे जो रोडा अटकाता है उसे चारित्र मोहनीय कहते है। यह कर्म दो प्रकार का है। एक तो क्रोधादि रूप मे अनुभव मे आता है। अर्थात् हसना, भोगो मे आनन्द मानना, धर्म मे नाराजी आदि होना वह इस कर्म का उदय है।

मूल—सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायज।
सत्तविह, नवविह वा, कम्म च नोकसायजं ॥११॥

छाया:—षोडशविधभेदेन कर्म तु कषायजम् ।
सप्तविध नवविध वा, कर्म च नोकषायजम् ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (कसायज) क्रोधादिक रूप से उत्पन्न होने वाला (कम्म तु) कर्म तो (भेएण) भेदो करके (सोलसविह) सोलह प्रकार का है। (च) और (नोकसायज) हास्यादि से उत्पन्न होने वाला जो (कम्म) कर्म है वह (सत्तविह) सात प्रकार का (वा) अथवा (नवविहं) नौ प्रकार का माना गया है।

भावार्थः—हे गौतम ! क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले कर्म के सोलह भेद हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, यो अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और सज्वलन के चार-चार भेदो के साथ इसके सोलह भेद हो जाते हैं और नोकषाय से उत्पन्न होने वाले कर्म के सात अथवा नौ भेद कहे गये हैं। वे यो हैं—हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद यो सात भेद होते हैं और वेद के उत्तरभेद (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद) लेने से नौ भेद हो जाते हैं। अत्यन्त क्रोध, मान, माया और लोम करने से तथा मिथ्या श्रद्धा मे रत रहने से और अव्रती रहने से मोहनीय कर्म का बध होता है।

हे गौतम ! अब हम आयुष्यकर्म का स्वरूप बतलावेंगे।

मूल—नेरइयतिरिक्खाउ, मणुस्साउ तहेव य।
देवाउअ चउत्थ तु, आउकम्म चउव्विह ॥१२॥

छाया:—नैरयिकतिर्यगायु मनुष्यायुस्तथैव च।
देवायुश्चतुर्थं तु आयु कर्म चतुर्विधम् ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (आउकम्म) आयुष्य कर्म (चउव्विह) चार प्रकार का है (नेरइयतिरिक्खाउ) नरकायुष्य तिर्यंचायुष्य (तहेव) वैसे ही (मणुस्साउ) मनुष्यायुष्य (य) और (चउत्थ तु) चौथा (देवाउअ) देवायुष्य है।

भावार्थ—हे गौतम ! आत्मा को नियत समय तक एक ही शरीर मे रोक रखने वाले कर्म को आयुष्य कर्म कहते हैं। यह आयुष्य कर्म चार प्रकार का है—(१) नरक योनि मे रखने वाला नरकायुष्य, (२) तिर्यंच योनि मे रखने वाला तिर्यंचायुष्य, (३) मनुष्य योनि मे रखने वाला मनुष्यायुष्य और (४) देव योनि मे रखने वाला देवायुष्य कहलाता है।

हे गौतम ! अब हम इन चारो जगह का आयुष्य किन-किन कारणो से बँधता है, उसे कहते हैं। महारम्भ करना, अत्यन्त लालसा रखना, पचेन्द्रिय जीवो का वध करना तथा माँस खाना, आदि ऐसे कार्यों से नरकायुष्य का वध होता है। कपट करना, कपटपूर्वक फिर कपट करना, असत्य भाषण करना, तौलने की वस्तुओ मे और नापने की वस्तुओ मे कमीवेशी लेना देना आदि ऐसे कार्यों को करने से तिर्यंचायुष्य का बन्ध होता है। निष्कपट व्यवहार करना, नम्रभाव होना, सब जीवो पर दयाभाव रखना, तथा ईर्ष्या नही करना आदि कार्यों से मनुष्यायुष्य का बध होता है। सरागसयम व गृहस्थधर्म के पालने, अज्ञानयुत् तपस्या करने, बिना इच्छा से भूख, प्यास आदि सहन करने तथा शीलव्रत पालने से देवायुष्य का बध होता है।

हे गौतम ! अब हम आगे नामकर्म का स्वरूप कहते है, सो सुनो —

मूल:—नामकम्म तु दुविह, सुह असुह च आहिय।
सुहस्स तु बहू भेया, एमेव असुहस्स वि ॥१३॥

छाया:—नामकर्म तु द्विविध शुभमशुभ चाख्यातम्।
शुभस्य तु बहवो भेदा एवमेवाशुभस्याऽपि ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (नामकम्म तु) नाम कर्म तो (दुविह) दो प्रकार का (आहिय) कहा गया है। (सुह) शुभ नाम कर्म (च) और (असुह) अशुभ नाम कर्म जिसमे (सुहस्स) शुभ नाम कर्म के (तु) तो (बहू) बहुत (भेया) भेद हैं। (असुहस्स वि) अशुभ नाम कर्म के भी (एमेव) इसी प्रकार अनेक भेद माने गये हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! जिसके द्वारा शरीर सुन्दराकार हो अथवा जो असुन्दराकार होने मे कारणभूत हो वही नाम कर्म है। यह नाम कर्म दो प्रकार का माना गया है। उनमे से एक शुभ नाम कर्म और दूसरा अशुभ नाम कर्म है। मनुष्य शरीर, देव शरीर, सुन्दर अगोपाग, गौर वर्णादि, वचन मे मधुरता का होना, लोकप्रिय, यशस्वी, तीर्थंकर आदि-आदि का होना, ये सब शुभ नाम कर्म के फल हैं। नारकीय, तिर्यंच का शरीर धारण करना, पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि मे जन्म लेना, बेडौल अगोपागो का पाना, कुरूप और अयशस्वी होना। ये सब अशुभ नाम कर्म के फल हैं।

हे गौतम ! शुभ अशुभ नाम कर्म कैसे बँधता है सो सुनो —मानसिक, वाचिक और कायिक कृत्य की सरलता रखने से और किसी के साथ किसी भी प्रकार का वैर विरोध न करने व न रखने से शुभनाम कर्म बँधता है। शुभनाम कर्म के बधन से विपरीत बर्ताव के करने से अशुभ नाम कर्म बँधता है।

हे गौतम ! अब हम आगे गोत्र कर्म का स्वरूप बतलावेंगे।

मूल—गोयकम्मं तु दुविहं, उच्चं नीअं च आहिअं।
उच्च अट्ठविहं होइ, एवं नीअं वि आहिअं ॥१४॥

छायाः—गोत्रकर्म तु द्विविध, उच्च नीच चाख्यातम्।
उच्चमष्टविध भवति, एव नीचमप्याख्यातम् ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (गोयकम्म तु) गोत्र कर्म (दुविह) दो प्रकार का (आहिअ) कहा गया है। (उच्च) उच्च गोत्र कर्म (च) और (नीअ) नीच गोत्र कर्म (उच्च) उच्च गोत्र कर्म (अट्ठविह) आठ प्रकार का (होइ) है (नीअ वि) नीच गोत्र कर्म भी (एव) इसी तरह आठ प्रकार का होता है ऐसा (आहिअ) कहा गया है।

भावार्थ—हे गौतम ! उच्च तथा नीच जाति आदि मिलने में जो कारण-भूत हो उसे गोत्र कर्म कहते हैं। यह गोत्र कर्म ऊँच, नीच मे विभक्त होकर आठ प्रकार का होता है। ऊँच जाति और ऊँचे कुल मे जन्म लेना, बलवान होना, सुन्दराकार होना, तपवान् होना, प्रत्येक व्यवहार मे अर्थ प्राप्ति का होना, विद्वान् होना, ऐश्वर्यवान् होना ये सब ऊँचे गोत्र के फल हैं। और इन सब बातों के विपरीत जो कुछ है उसे नीच गोत्र कर्म का फल समझो।

हे गौतम ! वह ऊँच नीच गोत्र कर्म इस प्रकार से बँधता है। स्वकीय, माता के वश का, पिता के वश का, ताकत का, रूप का, तप का, विद्वत्ता का और सुलभता से लाभ होने का घमण्ड न करने से ऊँच गोत्र कर्म का वध होता है। और इसके विपरीत अभिमान करने से नीच गोत्र का वध होता है। हे गौतम ! अब अन्तराय कर्म का स्वरूप बतलाते हैं।

मूलः—दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा।
पचविहमतराय, समासेण विआहिय ॥१५॥

छायाः—दाने लाभे च भोगे च, उपभोगे वीर्ये तथा।
पञ्चविधमन्तराय, समासेन व्याख्यातम् ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अन्तराय) अन्तराय कर्म (समासेण) सक्षेप से (पंचविह) पांच प्रकार का (विआहिय) कहा गया है। (दाणे) दानान्तराय (य) और (लाभे) लाभान्तराय (भोगे) भोगान्तराय (य) और (उवभोगे) उपभोगान्तराय (तहा) वैसी ही (वीरिए) वीर्यान्तराय।

भावार्थः—हे गौतम ! जिसके उदय से इच्छित वस्तु की प्राप्ति मे वाधा आवे वह अन्तराय कर्म है। इसके पाँच भेद है। दान देने की वस्तु के विद्यमान होते हुए भी, दान देने का अच्छा फल जानते हुए भी, जिसके कारण दान नही दिया जा सके वह **दानान्तराय** है। व्यवहार मे व माँगने मे सब प्रकार की सुविधा होते हुए भी जिसके कारण प्राप्ति न हो सके वह **लाभान्तराय** है। खान-पान आदि की सामग्री के व्यवस्थित रूप से होने पर भी जिसके कारण खा-पी न सके, खा और पी भी लिया तो हजम न किया जा सके, वह **भोगान्तराय** कर्म है। भोग पदार्थ वे है, जो एक वार काम मे आते है जैसे भोजन, पानी आदि और जो वार-वार काम मे आते हैं उन्हे उपभोग माना गया है जैसे वस्त्र, आभूपण आदि। अत जिसके उदय से उपभोग की सामग्री सघटित रूप से स्वाधीन होते हुए भी अपने काम मे न ली जा सके उसे **उपभोगान्तराय** कर्म कहते है। और जिसके उदय से युवान और वलवान होते हुए भी कोई कार्य न किया जा सके, वह **वीर्यान्तराय कर्म** का फल है।

हे गौतम ! यह अन्तराय कर्म निम्न प्रकार से वँधता है। दान देते हुए के वीच वाधा डालने से, जिसे लाभ होता हो उसे धक्का लगाने से, जो खा-पी रहा हो या खाने-पीने का जो समय हुआ हो उसे टालने से, जो उपभोग की सामग्री को अपने काम मे ला रहा हो उसे अन्तराय देने से तथा जो सेवा धर्म का पालन कर रहा हो उसके वीच रोडा अटकाने से आदि-आदि कारणो से वह जीव अन्तराय कर्म वांध लेता है।

हे गौतम ! अव हम आठो कर्मो की पृथक्-पृथक् स्थिति कहेगे सो सुनो।

मूलः—उदहीसरिसनामाणं, तीसई कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१६॥
आवरणिज्जाण दुण्ह पि, वेयणिज्जे तहेव य।
अतराए य कम्ममि, ठिई एसा विआहिया ॥१७॥

छाया—उदधिसदृङ्नाम्ना, त्रिंशत्कोटाकोटय.।
उत्कृष्टा स्थितिर्भवति, अन्तर्मुहूर्त्ता जघन्यका ॥१६॥
आवरयोर्द्वयोरपि वेदनीये तथैव च।
अन्तराये च कर्मणि स्थितिरेषा व्याख्याता ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (दुण्ह पि) दोनो ही (आवरणिज्जाण) ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्म की (तीसई) तीस (कोडिकोडीओ) कोटाकोटि (उदहीसरिसनामाण) समुद्र के समान है नाम जिसका ऐसा सागरोपम (उक्कोसिया) ज्यादा से ज्यादा (ठिई) स्थिति (होई) है (तहेव) वैसे ही (वेयणिज्जे) वेदनीय (य) और (अन्तराए) अन्तराय (कम्मम्मि) कर्म के विषय मे भी (एसा) इतनी ही उत्कृष्ट स्थिति है और (जहण्णिया) कम से कम चारो कर्मों की (अन्तोमुहुत्त) अन्तर्मुहूर्त्त (ठिई) स्थिति (विआहिया) कही है।

भावार्थ—हे गौतम! ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय ये चारो कर्म अधिक से अधिक रहे तो तीस क्रोडाक्रोडी (तीस क्रोड को तीस क्रोड से गुणा करने पर जो गुणनफल आवे उतने) सागरोपम की इनकी स्थिति मानी गई है। और कम से कम रहे तो अन्तर्मुहूर्त्त की इनकी स्थिति होती है।

मूलः—उदहीसरिसनामाण, सत्तरिं कोडिकोडीओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अन्तोमुहुत्त जहण्णिया ॥१८॥
तेत्तीस सागरोवम, उक्कोसेण विआहिया।
ठिई उ आउकम्मस्स, अन्तोमुहुत्त जहण्णिया ॥१९॥
उदहीसरिसनामाण, वीसई कोडिकोडीओ।
नामगोत्ताण उक्कोसा, अट्ठ मुहुत्ता जहण्णिया।

छाया:—उदधिसदृङ्नाम्नां सप्तति कोटाकोटय:।
मोहनीयस्योत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्ता जघन्यका ॥१८॥
त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमा, उत्कर्षेण व्याख्याता।
स्थितिस्तु आयु: कर्मण:, अन्तर्मुहूर्त्ता जघन्यका ॥१९॥
उदधिसदृङ्नाम्ना, विंशति: कोटाकोटय:।
नामगोत्रयोरुत्कृष्टा अष्ट मुहूर्त्ता जघन्यका ॥२०॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति! (मोहणिज्जस्स) मोहनीय कर्म की (उक्कोसा) उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति (सत्तरिं) सत्तर (कोडिकोडीओ) कोटा कोटि (उदहीसरिसनामाण) सागरोपम है। और (जहण्णिया) जघन्य (अन्तोमुहुत्त) अन्तर्मुहूर्त्त और (आउकम्मस्स) आयुष्य कर्म की (उक्कोसेण) उत्कृष्ट स्थिति (तेत्तीस सागरोवम) तेतीस सागरोपम की है। और (जहण्णिया) जघन्य (अन्तोमुहुत्त) अन्तर्मूहूर्त्त की और इसी प्रकार (नामगोत्ताण) नाम कर्म और गोत्र कर्म की (उक्कोसा) उत्कृष्ट स्थिति (वीसई) वीस (कोडिकोडिओ) कोटा-कोटि (उदहीसरिसनामाण) सागरोपम की है। और (जहण्णिया) जघन्य (अट्ठ) आठ (मुहुत्ता) मुहूर्त की (ठिई) स्थिति (विआहिया) कही है।

भावार्थ:—हे गौतम! मोहनीय कर्म की ज्यादा से ज्यादा स्थिति सत्तर क्रोडाक्रोड सागरोपम की है। और जघन्य (कम से कम) स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है। आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है। नाम कर्म एव गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति वीस क्रोडाक्रोड सागरोपम की है और जघन्य आठ मुहूर्त की कही है।

मूल:—एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुर काय, अहाकम्मेहिं गच्छइ ॥२१॥

छाया:—एकदा: देवलोकेषु नरकेष्वेकदा।
एकदा आसुर काय, यथा कर्मभिर्गच्छति ॥२१॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (अहाकम्मेहिं) जैसे कर्म किये हैं, उनके अनुसार आत्मा (एगया) कभी तो (देवलोएसु) देवलोक मे (एगया) कभी (नरएसु वि)

नरक मे (एगया) कभी (आसुर) भवनपति आदि असुर की (कायं) काय मे (गच्छइ) जाता है ।

भावार्थ.—हे गौतम ! आत्मा जब शुभ कर्म उपार्जन करता है तो वह देवलोक मे जाकर उत्पन्न होता है । यदि वह आत्मा अशुभ कर्म उपार्जन करता है तो नरक मे जाकर घोर यातना सहता है । और कभी अज्ञानपूर्वक बिना इच्छा के क्रियाकाण्ड करता है तो वह भवनपति आदि देवो मे जाकर उत्पन्न होता है । इससे सिद्ध हुआ कि यह आत्मा जैसा कर्म करता है वैसा स्थान पाता है ।

मूलः—तेणे जहा संधिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
एव पया पेच्च इह च लोए;
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥२२॥

छाया—स्तेनो यथा सन्धिमुखे गृहीत·,
स्वकर्मणा क्रियते पापकारी ।
एव प्रजा प्रेत्य इह च लोके,
कृताना कर्मणा न मोक्षोऽस्ति ॥२२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (पावकारी) पाप करने वाला (तेणे) चोर (संधिमुहे) खात के मुंह पर (गहीए) पकडा जा कर (सकम्मुणा) अपने किए हुए कर्मो के द्वारा ही (किच्चइ) छेदा जाता है, दुःख उठाता है, (एव) इसी प्रकार (पया) प्रजा अर्थात् लोक (पेच्चा) परलोक (च) और (इहलोए) इस लोक मे किये हुए दुष्कर्मों के द्वारा दु ख उठाते हैं । क्योकि (कडाण) किये हुए (कम्माण) कर्मों को भोगे बिना (मुक्ख) छुटकारा (न) नही (अत्थि) होता ।

भावार्थ—हे गौतम ! कर्म कैसे हैं ? जैसे कोई अत्याचारी चोर खात के मुंह पर पकडा जाता है, और अपने कृत्यो के द्वारा कष्ट उठाता है अर्थात् प्राणान्त कर बैठता है । वैसे ही यह आत्मा अपने किये हुए कर्मों के द्वारा इस

लोक और परलोक मे महान् दु ख उठाता है। क्योकि किये हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नही मिलता है।[1]

मूलः—ससारमावण्ण परस्स अट्ठा,
साहारण ज च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बधवा बधवय उविति ॥२३॥

छायाः—ससारमापन्नः परस्यार्थाय,
साधारण यच्च करोति कर्म।
कर्मणस्ते तस्य तु वेदकाले,
न बान्धवा बान्धवत्त्वमुपयान्ति ॥२३॥

---

१ किसी समय कई एक चोर चोरी करने जा रहे थे। उन मे एक सुथार भी शामिल हो गया। वे चोर एक नगर मे एक धनाढ्य सेठ के यहाँ पहुँचे। वहाँ उन्होंने सेंध लगाई। सेंध लगाते-लगाते दीवार मे काठ का एक पटिया दिख पडा, तब वे चोर साथ के उस सुथार से बोले कि अब तुम्हारी बारी है, पटिया काटना तुम्हारा काम है। अत सुथार अपने शस्त्रो द्वारा काठ के पटिये को काटने लगा। अपनी कारीगरी दिखाने के लिए सेंध के छेदो मे चारो ओर तीखे-तीखे कगूरे उसने बना दिये। फिर वह खुद चोरी करने के लिए अन्दर घुसा। ज्योही उसने अन्दर पैर रखा, त्यो ही मकान मालिक ने उसका पैर पकड लिया। सुथार चिल्लाया, दौडो-दौडो, और बोला' म····का····न मा····लि····क मकान मा···· लि····क ! मेरे पाँव छुडाओ। यह सुनते ही चोर झपटे, और लगे सर पकड कर खीचने। सुथार बेचारा बडे ही झमेले मे पड गया। भीतर और बाहर दोनो तरफ से जोरो की खीचातानी होने लगी। बस, फिर क्या था ? जैसे बीज उसने बोये फसल भी वैसी ही उसे काटनी पडी। उसके निज के बनाये हुए सेंध के पैने-पैने कगूरो ने ही उसके प्राणो का अत कर दिया। आत्मा के लिए भी यही बात लागू होती है। वह भी अपने ही अशुभ कर्मों के द्वारा लोक और परलोक मे महान् कष्टो के झकझोरो मे पड़ता है।

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति ! ([illegible]) [illegible] आत्मा (परस्स) दूसरो के (अट्ठा) लिए (व) [illegible] लिए (जे) जो (कम्म) कर्म (करेइ) करता है। [illegible] के (वेयकाले) भोगते समय (ते) व (बंधवा) [illegible] फल को (न) नहीं (उविति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! [illegible] दुष्ट कर्म उपार्जन किये हैं, वे कर्म जब [illegible] जिन बन्धु-बान्धवों और मित्रों के लिए [illegible] वे कोई भी आकर पाप के फल भोगने में [illegible] नहीं होते।

मूल—न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।
इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥ [illegible] ॥

छाया:—न तस्य दुःखं विभजन्ते ज्ञातयः,
न मित्रवर्गा न सुता न बान्धवाः।
एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दुःखं,
कर्त्तारमेवानुयाति कर्म ॥२४॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (तस्स) उस पाप कर्म करने वाले के (दुक्खं) दुःख को (नाइओ) स्वजन वगैरह भी (न) नहीं (विभयंति) विभाजित कर सकते हैं और (न) न (मित्तवग्गा) मित्रवर्ग (न) न (सुया) पुत्र वर्ग (न) न (बंधवा) बन्धुजन, कर्मों के फल मे भाग ले सकते हैं। (इक्को) वही अकेला (दुक्खं) दुःख को (पच्चणुहोइ) भोगता है। क्योंकि (कम्म) कर्म (कत्तारमेव) करने वाले ही के साथ (अणुजाइ) जाता है।

भावार्थः—हे गौतम ! किये हुए कर्मों का जब उदय होता है उस समय ज्ञातिजन, मित्र लोग, पुत्रवर्ग, बन्धुजन आदि कोई भी उस मे हिस्सा नहीं बँटा सकते हैं। जिस आत्मा ने कर्म किये हैं वही आत्मा अकेला उसका फल भोगता है। यहाँ से मरने पर किये हुए कर्म करने वाले के साथ ही जाते हैं।

मूलः—चिच्चा दुपयं च चउप्पय च,
खित्तं गिह धणधन्नं च सव्वं ।
सकम्मबीओ अवसो पयाइ,
परभव सुन्दर पावग वा ॥२५॥

छाया.—त्यक्त्वा द्विपद चतुष्पद च,
क्षेत्र गृह धनधान्य च सर्वम् ।
स्वकर्म द्वितीयोऽवशः प्रयाति,
पर भव सुन्दर पापक वा ॥२५॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (सकम्मबीओ) आत्मा का दूसरा साथी उसका अपना किया हुआ कर्म ही है। इसी से (अवसो) परवश होता हुआ यह जीव (सव्व) सब (दुपय) स्त्री, पुत्र, दास, दासी आदि (च) और (चउप्पय) हाथी, घोडे आदि (च) और (खित्त) खेत वगैरह (गिह) घर (धण) रुपया, पैसा, सिक्का वगैरह (धन्न) अन्न वगैरह को (चिच्चा) छोडकर (सुन्दर) स्वर्गादि उत्तम (वा) अथवा (पावग) नरकादि अधम ऐसे (परभव) परभव को (पयाइ) जाता है।

भावार्थ—हे गौतम ! स्वकृत कर्मों के अधीन होकर यह आत्मा स्त्री, पुत्र, हाथी, घोडे, खेत, घर, रुपया, पैसा, धान्य, चाँदी, सुवर्ण आदि सभी को मृत्यु की गोद मे छोडकर जैसे भी शुभाशुभ कर्म इसके द्वारा किये होते है उनके अनुसार स्वर्ग तथा नरक मे जाकर उत्पन्न होता है।

मूलः—जहा य अडप्पभवा बलागा,
अडं बलागप्पभव जहा य ।
एमेव मोहाययण खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययण वयंति ॥२६॥

छाया:—यथा चाण्डप्रभवा बलाका,
अण्ड बलाकाप्रभव यथा च।
एवमेव मोहायतनं खलु तृष्णा·
मोह च तृष्णायतन्न वदन्ति ॥२६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जहा य) जैसे (अडप्पभवा बलागा) अण्डा से बगुली उत्पन्न हुई (य) और (जहा) जैसे (अड बलागप्पभव) बगुली से अण्डा उत्पन्न हुआ (एमेव) इसी तरह (खु) निश्चय करके (मोहाययण) मोह का स्थान (तण्हा) तृष्णा (च) और (तण्हाययण) तृष्णा का स्थान (मोह) मोह है, ऐसा (वयति) ज्ञानी जन कहते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! जैसे अण्डे से बगुली (मादा बगुला) उत्पन्न होती है और बगुली से अण्डा पैदा होता है। इसी तरह से मोह कर्म से तृष्णा उत्पन्न होती है और तृष्णा से मोह उत्पन्न होता है। हे गौतम ! ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं।

मूल—रागो य दोसो वि य कम्मबीय,
कम्म च मोहप्पभवं वयति।
कम्म च जाईमरणस्स मूल,
दुक्ख च जाईमरण वयति ॥२७॥

छाया:—रागश्च द्वेषोऽपि च कर्मबीज,
कर्म च मोहप्रभवं वदन्ति।
कर्म च जातिमरणयोर्मूल,
दु ख च जातिमरण वदन्ति ॥२७॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (रागो) राग (य) और (दोसो वि य) दोष ये दोनो (कम्मवीय) कर्म उत्पन्न करने मे कारणभूत है (च) और (कम्म) कर्म (मोहप्पभव) मोह से उत्पन्न होते हैं। ऐसा (वयति) ज्ञानी जन कहते हैं। (च) और (जाईमरणस्स) जन्म मरण का (मूल) मूल कारण (कम्म) कर्म है (च) और (जाईमरण) जन्म-मरण ही (दुक्ख) दु ख है, ऐसा (वयति) ज्ञानी-जन कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम वे राग और द्वेष कर्म से उत्पन्न होते हैं और कर्म मोह से पैदा होते हैं। यही कर्म जन्म-मरण का मूल कारण है और जन्म-मरण ही दुःख है, ऐसा ज्ञानीजन कहते है। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष और कर्म मे परस्पर द्विमुख कार्य-कारण भाव है। जैसे बीज, वृक्ष का कारण और कार्य दोनों है तथा वृक्ष भी बीज का कार्य और कारण है, उसी प्रकार कर्म राग-द्वेष का कार्य भी है और कारण भी, तथा राग-द्वेष कर्म का कार्य भी है और कारण भी है।

मूल—दुक्ख हय जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥२८॥

छाया.—दुःख हतं यस्य न भवति मोहः,
मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा।
तृष्णा हता यस्य न भवति लोभः,
लोभो हतो यस्य न किञ्चन ॥२८॥

अन्वयार्थ.—(जस्स) जिसने (दुक्ख) दुःख को (हय) नाश कर दिया है उसे (मोहो) मोह (न) नही (होइ) होता है और (जस्स) जिसने (मोहो) मोह (हओ) नष्ट कर दिया है उसे (तण्हा) तृष्णा (न) नही (होइ) होती। (जस्स) जिसने (तण्हा) तृष्णा (हया) नष्ट करदी उसे (लोहो) लोभ (न) नही (होइ) होता, और (जस्स) जिसने (लोहो) लोभ (हओ) नष्ट कर दिया उसके (किंचणाइ) ममत्व (न) नही रहता।

भावार्थः—हे गौतम! जिसने दुःख रूपी भयकर सागर का पार पा लिया है वह मोह के बन्धन मे नही पडता। जिसने मोह का समूल उन्मूलन कर दिया है उसे तृष्णा नही सता सकती। जिसने तृष्णा का त्याग कर दिया है उसमे लोभ की वासना कायम नही रह सकती। जो पाप के बाप लोभ से मुक्त हो गया, उसके सभी कुछ मानो नष्ट हो गया। निर्लोभता के कारण वह अपने को अकिंचन समझने लगता है।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(तृतीय अध्याय)

धर्म-स्वरूप वर्णन

(श्री भगवानुवाच)

मूल.—कम्माण तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययति मणुस्सय ॥१॥

छाया—कर्मणा तु प्रहाण्या, आनुपूर्व्या कदापि तु।
जीवा शुद्धिमनुप्राप्ता:, आददते मनुष्यताम् ॥१॥

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति ! (आणुपुव्वी) अनुक्रम से (कम्माण) कर्मों की (पहाणाए) न्यूनता होने पर (कयाइ उ) कभी (जीवा) जीव (सोहिमणुप्पत्ता) शुद्धता प्राप्त कर (मणुस्सय) मनुष्यत्व को (आययति) प्राप्त होते है।

भावार्थः—हे गौतम ! जब यह जीव अनेक जन्मो मे दुख सहन करता हुआ धीरे-धीरे मनुष्य जन्म के बाधक कर्मों को नष्ट कर लेता है। तब कही कर्मों के भार से हलका होकर मनुष्य जन्म को प्राप्त करता है।

मूल—वेमायाहि सिक्खाहि, जे नरा गिहिसुव्वया।
उर्विति माणुस जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥२॥

छायाः—विमात्राभि: शिक्षाभि, ये नरा गृहि-सुव्रता।
उपयान्ति मानुष्य योनिं, कर्मसत्या हि प्राणिन ॥२॥

अन्वयार्थ·—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (नरा) मनुष्य (वेमायाहि) विविध प्रकार की (सिक्खाहि) शिक्षाओ के साथ (गिहिसुव्वया) गृहस्थावास मे

सुव्रतो 'अणुव्रतो' का आचरण करने वाले हो, वे मनुष्य फिर (माणुस) मनुष्य (जोणिं) योनि को (उविंति) प्राप्त होते है। (हु) क्योंकि (पाणिणो) प्राणी (कम्मसच्चा) सत्य कर्म करने वाला है, अर्थात् जैसे कर्म वह करता है वैसी ही उसकी गति होती है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो नाना प्रकार के त्याग धर्म को धारण करता है, प्रत्येक के साथ निष्कपट व्यवहार करता है, वही मनुष्य पुन. मनुष्य भव को प्राप्त हो सकता है। क्योकि जैसे कर्म वह करता है, उसी के अनुसार गति मिलती है।

मूल—बाला किड्डा य मंदा य, बला पन्ना य हायणी।
पवच्चा पब्भारा य, मुम्मुही सायणी तहा ॥३॥

छाया—बाला क्रीडा च मन्दा च, बला प्रज्ञा च हायनी।
प्रपञ्चा प्राग्भारा च मुन्मुखी शायिनी तथा ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! मनुष्य की दश अवस्थाएँ है। प्रथम (बाला) बाल्यावस्था (य) और दूसरी (किड्डा) क्रीडावस्था (मंदा) तीसरी मन्दावस्था (बला) चौथी बलावस्था (य) और (पन्ना) पाँचवी प्रज्ञावस्था छठ्ठी (हायणी) हायनी अवस्था तथा सातवी (पवचा) प्रपंचावस्था (य) और आठवी (पब्भारा) प्राग्भारावस्था। नौवी (मुम्मुही) मुम्मुखी अवस्था (तहा) तथा मनुष्य की दशवी अवस्था (सायणी) शायनी अवस्था होती है।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस समय मनुष्य की जितनी आयु हो उतनी आयु को दश भागो मे बाँटने से दश अवस्थाएँ होती है। जैसे सौ वर्ष की आयु हो तो दश वर्षों की एक अवस्था, यो दश-दश वर्षों की दश अवस्थाएँ है। प्रथम बाल्यावस्था है कि जिसमे खाना, पीना, कमाना, रूप आदि सुख-दु:ख का प्राय. भान नही रहता है। दश वर्ष से बीस वर्ष तक खेलने-कूदने की प्रायः धुन रहती है, इसलिए दूसरी अवस्था का नाम क्रीडावस्था है। बीस वर्ष से तीस वर्ष तक अपने गृह मे जो काम-भोगो की सामग्री जुटी हुई है उसी को भोगते रहना और नवीन अर्थ सम्पादन करने मे प्राय बुद्धि की मन्दता रहती है, इसी से तीसरी मन्दावस्था है। तीस से चालीस वर्ष पर्यंत यदि वह स्वस्थ रहे तो उस हालत मे वह कुछ बली दिखलाई देता है, इसी से चौथी बलावस्था

कही गयी है। चालीस से पचास वर्ष तक इच्छित अर्थ का सम्पादन करने के लिये तथा कुटुम्ब वृद्धि के लिए बुद्धि का खूब प्रयोग करता है, इसी से पाँचवी प्रज्ञावस्था है। ५० से ६० वर्ष तक जिसमे इन्द्रियजन्य विषय ग्रहण करने मे कुछ हीनता आजाती है इसीलिए छठी हायनी अवस्था है। साठ से सत्तर वर्ष तक वार-वार कफ निकलने, थूंकने और खांसने का प्रपंच बढ जाता है। इसी से सातवी प्रपचावस्था है। शरीर पर सलवट पड जाते हैं और शरीर भी कुछ झुक जाता है इसी से सत्तर से अस्सी वर्ष तक की अवस्था को प्राग्भार अवस्था कहते हैं। नौवी अस्सी से नव्वे वर्ष तक मुम्मुखी अवस्था में जीव जरारूप राक्षसी से पूर्ण रूप से घिर जाता है। या तो इसी अवस्था मे परलोक वासी बन बैठता है और यदि जीवित रहा तो एक मृतक के समान ही है। नव्वे से सौ वर्ष तक प्राय दिन-रात सोते रहना ही अच्छा लगता है। इस-लिए दशवी शायनी अवस्था कही जाती है।

मूल—माणुस्स विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जति, तवं खतिमहिंसयं ॥४॥

छाया—मानुष्य विग्रह लब्ध्वा श्रुति धर्मस्य दुर्लभा।
य श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तप· क्षान्तिमहिंस्रताम् ॥४॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (माणुस्स) मनुष्य के (विग्गह) शरीर को (लद्धु) प्राप्त कर (धम्मस्स) धर्म का (सुई) श्रवण करना (दुल्लहा) दुर्लभ है। (ज) जिसको (सोच्चा) सुनने से (तव) तप करने की (खतिमहिंसय) तथा क्षमा और अहिंसा के पालन करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

भावार्थः—हे गौतम! दुर्लभ मानव देह को पा भी लिया तो भी धार्मिक तत्त्व का श्रवण करना महान् दुर्लभ है। जिसके सुनने से तप, क्षमा, अहिंसा आदि करने की प्रवल इच्छा जाग उठती है।

मूल—धम्मो मंगलमुक्किट्ठ, अहिंसा सजमो तवो।
देवा वि त नमसति, जस्स धम्मे सया मणो ॥५॥

छाया—धर्मो मङ्गलमुत्कृष्ट, अहिंसा सयमस्तपः।
देवा अपि त नमंस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः ॥५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अहिसा) जीव दया (सयम) यत्ना और (तवो) तप रूप (धम्मो) धर्म (उक्किट्ठ) सब से अधिक (मगल) मगलमय है। इस प्रकार के (धम्मे) धर्म मे (जस्स) जिसका (सया) हमेशा (मणो) मन है, (त) उसको (देवा वि) देवता भी (नमसंति) नमस्कार करते है।

भावार्थः—हे गौतम ! किंचित्मात्र भी जिसमे हिंसा नहीं है, ऐसी अहिंसा, सयम और मन-वचन-काया के अशुभ योगो का घातक तथा पूर्वकृतापो का नाश करने मे अग्रसर ऐसा तप, ये ही जगत मे प्रधान और मगलमय धर्म के अंग हैं। बस एकमात्र इसी धर्म को हृदयगम करने वाला मानव देवो से भी सदैव पूजित होता है, तो फिर मनुष्यो द्वारा वह पूज्य दृष्टि से देखा जाय इस मे आश्चर्य ही क्या है ?

मूलः—मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुविति साहा।
साहप्पसाहा विरुहति पत्ता,
तओ से पुप्फ च फल रसो अ ॥६॥

छायाः—मूलात्स्कन्धप्रभवो द्रुमस्य,
स्कन्धात् पश्चात् समुपयान्ति शाखा.।
शाखाप्रशाखाभ्योविरोहन्ति पत्राणि,
ततस्तस्य पुष्प च फल रसश्च ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (दुमस्स) वृक्ष के (मूलाउ) मूल से (खधप्पभवो) स्कन्ध अर्थात् "पीड" पैदा होता है (पच्छा) पश्चात् (खधाउ) स्कध से (साहा) शाखा (समुविति) उत्पन्न होती है। और (साहप्पसाहा) साखा प्रतिशाखा से (पत्ता) पत्ते (विरुहति) पैदा होते हैं। (तओ) उसके वाद (से) वह वृक्ष (पुप्फ) फूलदार (च) और (फल) फलदार (अ) और (रसो) रस वाला वनता है।

भावार्यः—हे गौतम ! वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है। तदनन्तर स्कन्ध मे शाखा, टहनियां और उसके वाद पत्ते उत्पन्न होते हैं। अन्त मे वह वृक्ष फूलदार, फलदार व रस वाला होता है।

मूलः—एवं धम्मस्स विणओ, मूल परमो से मुक्खो ।
जेण किर्त्ति सुअ सिग्घ, नीसेसं चाभिगच्छइ ॥७॥

छायाः—एव धर्मस्य विनयो मूल परमस्तस्य मोक्ष ।
येन कीर्त्ति श्रुत शीघ्र निश्शेष चाभिगच्छति ॥७॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (एव) इसी प्रकार (धम्मस्स) धर्म की (परमो) मुख्य (मूल) जड (विणओ) विनय है। फिर उससे क्रमश आगे (से) वह (मुक्खो) मुक्ति है। इसलिए पहले विनय आदरणीय है। (जेण) जिससे वह (किर्त्ति) कीर्ति को (च) और (नीसेस) सम्पूर्ण (सुअ) श्रुत ज्ञान को (सिग्घ) शीघ्र (अभिगच्छइ) प्राप्त करता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार वृक्ष अपनी जड के द्वारा क्रमपूर्वक रस वाला होता है। उसी प्रकार धर्म की जड विनय है। विनय के पश्चात् ही स्वर्ग, शुक्लध्यान, क्षपकश्रेणी आदि उत्तरोत्तर गुणो के साथ रसवान वृक्ष के समान आत्मा मुक्ति रूपी रस को प्राप्त कर लेती है। जब मूल ही नही है तो शाखा पत्ते फूल फल रस कहाँ से होंगे ? ऐसे ही जब विनय धर्म रूप मूल ही नही हो तो मुक्ति का मिलना महान् कठिन है। हे गौतम ! सबो के लिए विनय आदरणीय है। विनय से कीर्ति फैलती है और विनयवान् शीघ्र ही सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

मूलः—अणुसट्ठ पि बहुविह,
मिच्छ दिट्ठिया जे नरा अबुद्धिया ।
बद्धनिकाइयकम्मा,
सुणति धम्म न पर करेति ।

छायाः—अनुशिष्टमपि बहुविध,
मिथ्यादृष्टयो ये नरा अबुद्धयः ।
बद्धनिकाचितकर्माण
श्रृण्वन्ति धर्मं न पर कुर्वन्ति ॥८॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (बहुविह) अनेक प्रकार से (धम्म) धर्म को (अणुसट्ट पि) शिक्षित गुरु के द्वारा सीखने पर भी (बद्धनिकाइयकम्मा) बंधे हैं निकाचित कर्म जिसके ऐसे (अबुद्धिया) बुद्धिरहित (मिच्छादिट्ठिया) मिथ्या दृष्टि (नरा) मनुष्य (जे) वे केवल (धम्म) धर्म को (सुणति) सुनते हैं (वर) परन्तु (न) नहीं (करेंति) अनुसरण करते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! गृहस्थधर्म और चारित्रधर्म को शिक्षित गुरु के द्वारा सुन लेने पर भी बुद्धिरहित मिथ्यादृष्टि मनुष्य केवल उन धर्मों को सुन कर ही रह जाते हैं। उनके अनुसार अपने कर्तव्य को नही बना सकते हैं। क्योकि उनके प्रगाढ—निकाचित कर्म का उदय होता है।

मूल—जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥९॥

छाया:—जरा यावन्न पीडयति, व्याधिर्यावन्न वर्धते।
यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते, तावद्धर्मं समाचरेत् ॥९॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जाव) जब तक (जरा) वृद्धावस्था (न) नही (पीडेइ) सताती और (जाव) जब तक (वाही) व्याधि (न) नहीं (वड्ढइ) बढती और (जाविंदिया) जब तक इन्द्रियाँ (न) नही (हायति) शिथिल होतीं (ताव) तब तक (धम्म) धर्म का (समायरे) आचरण कर ले।

भावार्थः—हे गौतम ! जब तक वृद्धावस्था नही सताती, धर्म घातक व्याधि की बढती नही होती, निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनने मे सहायक श्रोत्रेन्द्रिय तथा जीव दया पालन करने मे सहायक चक्षु आदि इन्द्रियो की शिथिलता नही आ घेरती तब तक धर्म का आचरण बडे ही दृढतापूर्वक कर लेना चाहिए।

मूल—जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनिअत्तइ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ ॥१०॥

छायाः—या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्त्तते।
अधर्मं कुर्वाणस्य, अफला यान्ति रात्रयः ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जा जा) जो जो (रयणी) रात्रि (वच्चइ) जाती है (सा) वह रात्रि (न) नहीं (पडिनिअत्तइ) लौट कर आती है। अत. (अहम्म) अधर्म (कुणमाणस्स) करने वाले की (राइओ) रात्रियां (अफला) निष्फल (जति) जाती है।

भावार्थ—हे गौतम ! जो जो रात और दिन बीत रहे हैं वह समय पीछे लौट कर नहीं आ सकता। अत ऐसे अमूल्य समय मे मानव शरीर पाकर के भी जो अधर्म करता है, तो उस अधर्म करने वाले का समय निष्फल जाता है।

मूल—जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनिअत्तइ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥११॥

छाया—या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्त्तते।
धर्मं च कुर्वाणस्य, सफला यान्ति रात्रय. ॥११॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जा जा) जो जो (रयणी) रात्रि (वच्चइ) निकलती है (सा) वह (न) नही (पडिनिअत्तइ) लौट कर आती है। अतः (धम्म च) धर्म (कुणमाणस्स) करने वाले की (राइओ) रात्रियां (सफला) सफल (जति) जाती हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! रात और दिन का जो समय जा रहा है वह पुनः लौट कर किसी भी तरह नही आ सकता। ऐसा समझ कर जो धार्मिक जीवन बिताते हैं उनका समय (जीवन) सफल है।

मूलः—सोही उज्जुअभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।
णिव्वाण परमं जाइ, घयसित्ति व्व पावए ॥१२॥

छायाः—शुद्धि ऋजुभूतस्य, धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति।
निर्वाणं परम याति, घृतसिक्त इव पावकः ॥१२॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (उज्जुअभूयस्य) सरल स्वभावी का हृदय (सोही) शुद्ध होता है। उस (सुद्धस्स) शुद्ध हृदय वाले के पास (धम्मो) धर्म (चिट्ठइ) स्थिरता से रहता है। जिससे वह (परम) प्रधान (णिव्वाण) मोक्ष

को (जाइ) जाता है। (व्व) जैसे (पावए) अग्नि मे (घयसित्ति) घी सीचने पर अग्नि प्रदीप्त होती है। ऐसे ही आत्मा भी बलवती होती है।

भावार्थ.—हे गौतम ! स्वभाव को सरल रखने से आत्मा कषायादि से रहित होकर (शुद्ध) निर्मल हो जाती है। उस शुद्धात्मा के धर्म की भी स्थिरता रहती है। जिससे उसकी आत्मा जीवन-मुक्त हो जाती है। जैसे अग्नि मे घी डालने से वह चमक उठती है उसी तरह आत्मा के कषायादिक आवरण दूर हो जाने से वह भी अपने केवलज्ञान आदि गुणो से देदीप्यमान हो उठती है।

मूलः—जरामरणवेगेण, बुज्झमाणाण पाणिण।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तम ॥१३॥

छायाः—जरामरणवेगेन वाह्यमानानाम् प्राणिनाम्।
धर्मो द्वीपः प्रतिष्ठा च, गतिः शरणमुत्तमम् ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जरामरणवेगेण) जरा मृत्यु रूप जल के वेग से (बुज्झमाणाण) डूबते हुए (पाणिण) प्राणियो को (धम्मो) धर्म (पइट्ठा) निश्चल आधारभूत (गई) स्थान (य) और (उत्तम) प्रधान (सरण) शरणरूप (दीवो) द्वीप है।

भावार्थ—हे गौतम ! जन्म, जरा, मृत्यु रूप जल के प्रवाह मे डूबते हुए प्राणियो को मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला धर्म ही निश्चल आधारभूत स्थान और उत्तम शरण रूप एक टापू के समान है।

मूल.—एस धम्मे धुवे णितिए, सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झति चाणेण, सिज्झिसति तहावरे ॥१४॥

छायाः—ऐषो धर्मो ध्रुवो नित्यः शाश्वतो जिनदेशित.।
सिद्धाः सिद्धचन्ति चानेन, सेत्स्यन्ति तथाऽपरे ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जिणदेसिए) तीर्थंकरो के द्वारा कहा हुआ (एस) यह (धम्मे) धर्म (धुवे) ध्रुव है (णितिए) नित्य है (सासए) शाश्वत है (अणेण) इस धर्म के द्वारा अनत जीव भूतकाल मे सिद्ध हुए है (च) और वर्तमान काल मे (सिज्झति) सिद्ध हो रहे है (तहा) उसी तरह (अवरे) भविष्यत काल मे भी (सिज्झिसति) सिद्ध होगे।

भावार्थ—हे गौतम ! पूर्ण ज्ञानियो के द्वारा कहा हुआ यह धर्म ध्रुव के समान है। तीन काल मे नित्य है। शाश्वत है। इसी धर्म को अङ्गीकार कर के अनत जीव भूतकाल मे कर्मों के बधन से मुक्त होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो गये हैं। वर्तमान काल मे हो रहे हैं। और भविष्यत् काल मे भी इसी धर्म का सेवन करते हुए अनत जीव मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

इति तृतीयोऽध्याय·

ॐ
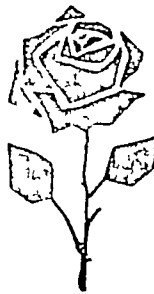
निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(चतुर्थ अध्याय)

आत्म शुद्धि के उपाय

।। श्री भगवानुवाच ।।

मूल.—जह णरगा गम्मति, जे णरगा जा य वेयणा णरए।
सारीरमाणसाइ, दुक्खाइ तिरिक्खजोणीए ।।१।।

छाया:—यथा नरका गच्छन्ति ये नरका या च वेदना नरके।
शारीरमानसानि दु खानि तिर्यग् योनौ ।।१।।

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (णरगा) नारकीय जीव (णरए) नरक मे (गम्मति) जाते हैं। (जे) वे (णरगा) नारकीय जीव (जा) नरक मे उत्पन्न हुई (वेयणा) वेदना को सहन करते है। उसी तरह (तिरिक्खजोणीए) तिर्यंच योनियो मे जाने वाली आत्माएँ भी (सारीरमाणसाइ) शारीरिक, मानसिक (दुक्खाइ) दु खो को सहन करती हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार नरक मे जाने वाले जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार नरक मे होने वाली महान वेदना को सहन करते हैं, उसी तरह तिर्यंच योनि मे उत्पन्न होने वाले आत्मा भी कर्मों के फल रूप मे अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक वेदनाओ को सहन करते है।

मूल—माणुस्स च अणिच्च, वाहिजरामरणवेयणापउरं।
देवे य देवलोए, देविड्ढि देवसोक्खाइ ।।२।।

छाया —मानुष्य चानित्य व्याधिजरामरणवेदना प्रचुरम् ।
देवश्च देवलोको देवर्द्धि देवसौख्यानि ॥२॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (माणुस्स) मनुष्य जन्म (अणिच्च) अनित्य है (च) और वह (वाहिजरामरणवेयणापउर) व्याधि, जरा, मरण, रूप प्रचुर वेदना से युक्त है (य) और (देवलोए) देवलोक मे (देवे) देवपर्याय (देविड्ढि) देव ऋद्धि और (देवसोक्खाइं) देवता सबधी सुख भी अनित्य है ।

भावार्थ—हे गौतम ! मनुष्य जन्म अनित्य है। साथ ही जरा-मरण आदि व्याधि की प्रचुरता से भरा पडा है । और पुण्य उपार्जन कर जो स्वर्ग मे गये हैं, वे वहाँ अपनी देव ऋद्धि और देवता सवधी सुखो को भोगते हैं । परन्तु आखिर वे भी वहाँ से चवते हैं ।

मूल —णरग तिरिक्खजोणिं, माणुसभाव च देवलोग च ।
सिद्धे अ सिद्धवसहिं, छज्जीवणिय परिकहेइ ॥३॥

छाया —नरकं तिर्यग्योनिं मानुष्यभव देवलोक च ।
सिद्धिश्च सिद्धवसतिं षट्जीवनिकायं परिकथति ॥३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! जो जीव पाप कर्म करते हैं, वे (णरगं) नरक को और (तिरिक्खजोणिं) तिर्यंच योनि को प्राप्त होते हैं । और जो पुण्य उपार्जन करते हैं, वे (माणुसभाव) मनुष्य भव को (च) और (देवलोग) देवलोक को जाते हैं, (अ) और जो (छज्जीवणिय) षट्काय के जीवो की रक्षा करते हैं, वह (सिद्धवसहिं) सिद्धावस्था को प्राप्त करके अर्थात् सिद्ध गति मे जाकर (सिद्धे) सिद्ध होते हैं । ऐसा सभी तीर्थंकरो ने (परिकहेइ) कहा है ।

भावार्थ—हे आर्य ! जो आत्मा पाप कर्म उपार्जन करते हैं, वे नरक और तिर्यंच योनियो मे जन्म लेते हैं । जो पुण्य उपार्जन करते हैं, वे मनुष्य-जन्म एव देव-गति मे जाते हैं । और जो पृथ्वी, अप्, तेज, वायु तथा वनस्पति के जीवो की तथा हिलते-फिरते त्रस जीवो की सम्पूर्ण रक्षा कर अष्ट कर्मों को चूर चूर कर देने मे समर्थ होते हैं, वे आत्मा सिद्धालय मे सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं । ऐसा ज्ञानियो ने कहा है ।

मूल—जह जीवा बज्झति,
मुच्चति जह य परिकिलिस्सति ।
जह दुक्खाणं अंतं,
करेंति केई अपडिबद्धा ॥४॥

छाया—यथा जीवा बध्यन्ते, मुच्यन्ते यथा च परिक्लिश्यन्ते ।
यथा दुःखानामन्त कुर्वन्ति केऽपि अप्रतिवद्धाः ॥४॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (केई) कई (जीवा) जीव (बज्झंति) कर्मों से बँधते हैं, वैसे ही (मुच्चति) मुक्त भी होते है (य) और (जह) जैसे कर्मों की वृद्धि होने से (परिकिलिस्सति) महान् कष्ट पाते हैं। वैसे ही (दुक्खाण) दु खो का (अन्त) अन्त भी (करेंति) कर डालते हैं। ऐसा (अपडिबद्धा) अप्रतिबद्ध विहारी निर्ग्रन्थो ने कहा है।

भावार्थ—हे गौतम ! यही आत्मा कर्मों को वांधता है, और यही कर्मों से मुक्त भी होता है। यही आत्मा कर्मों का गाढ लेप करके वु खी होता है, और सदाचार सेवन से सम्पूर्ण कर्मों को नाश करके मुक्ति के सुखो का सोपान भी यही आत्मा तैयार करता है। ऐसा निर्ग्रन्थो का प्रवचन है।

मूल—अट्टदुहट्टियचित्ता जह, जीवा दुक्खसागर मुवेति ।
जह वेरग्गमुवगया, कम्मसमुग्ग विहाडेति ॥५॥

छाया—आर्त्तदुःखार्त्त चित्ता यथा जीवा,
दुःजीवा दुःखसागरमुपयान्ति ।
यथा वैराग्यमुपगता,
कर्मसमुद्र विघाटयन्ति ॥५॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! जो (जीवा) जीव वैराग्य भाव से रहित हैं वे (अट्टदुहट्टियचित्ता) आर्त्त रौद्र ध्यान से युक्त चित्त वाले हो (जह) जैसे (दुक्खसागर) दु:ख सागर को (उवेति) प्राप्त होते है। वैसे ही (वेरग्ग) वैराग्य को (उवगया) प्राप्त हुए जीव (कम्मसमुग्ग) कर्म समूह को (विहाडेंति) नष्ट कर डालते हैं।

भावार्थ —हे गौतम ! जो आत्मा वैराग्य अवस्था को प्राप्त नही हुए हैं, सासारिक भोगों मे फँसे हुए हैं, वे आर्त्त रौद्र ध्यान को ध्याते हुए मानसिक कुभावनाओ के द्वारा अनिष्ट कर्मो का सचय करते है ! और जन्म-जन्मान्तर के लिये दु ख सागर मे गोता लगाते हैं। जिन आत्माओ की रग-रग मे वैराग्य रस भरा पडा है, वे सदाचार के द्वारा पूर्व सचित कर्मों को बात की बात मे नष्ट कर डालते हैं।

मूलः—जह रागेण कडाण.कम्माण, पावगो फलविवागो ।
जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेति ॥६॥

छाया —यथा रागेण कृताना कर्मणाम्, पापक·फलविपाक ।
यथा च परिहीणकर्मा, सिद्धा सिद्धालयमुपयान्ति ॥६॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे यह जीव (रागेण) राग-द्वेष के द्वारा (कडाण) किये हुए (पावगो) पाप (कम्माण) कर्मों के (फलविवागो) फलोदय को भोगता है। वैसे ही शुभ कर्मों के द्वारा (परिहीणकम्मा) कर्मों को नष्ट करने वाले जीव (सिद्धा) सिद्ध होकर (सिद्धालय) सिद्धस्थान को (उवेंति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ —हे आर्य ! जिस प्रकार यह आत्मा राग-द्वेष करके कर्म उपार्जन कर लेता है और उन कर्मों के उदय काल मे उनका फल भी चखता है वैसे ही सदाचारो से जन्म-जन्मान्तरो के कृत कर्मों को सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर डालता है। और फिर वही सिद्ध हो कर सिद्धालय को भी प्राप्त हो जाता है।

मूलः—आलोयण निरवलावे, आवईसु दड्ढधम्मया ।
अणिस्सिओवहाणे य, सिक्खा निप्पडिकम्मया ॥७॥

छाया —आलोचना निरपलापा, आपत्तौ सुदृढधर्मता ।
अनिश्रितोपधानश्च, शिक्षा नि प्रतिकर्मता ॥७॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (आलोयण) आलोचना करना (निरवलावे) की हुई आलोचना अन्य के सम्मुख नही करना (आवईसु) आपदा आने पर

भी (दड्ढधम्मया) धर्म मे दृढ रहना (अणिस्सिओवहाणे) विना किसी चाह के उपधान तप करना (सिक्खा) शिक्षा ग्रहण करना (य) और (निप्पडिकम्मया) शरीर की शुश्रूषा नही करना।

भावार्थः—हे गौतम ! जानते मे या अजानते मे किसी भी प्रकार दोषो का सेवन कर लिया हो, तो उसको अपने आचार्य के सम्मुख प्रकट करना और आचार्य उसके प्रायश्चित रूप मे जो भी दण्ड दें उसे सहर्ष ग्रहण कर लेना, अपनी श्रेष्ठता बताने के लिए पुन. उस बात को दूसरो के सम्मुख नही कहना और अनेक आपदाओ के बादल क्यो न उमड आवे मगर धर्म से एक पैर भी पीछे न हटना चाहिए। ऐहिक और पारलौकिक पौद्गलिक सुखो की इच्छा रहित उपधान तप व्रत करना, सूत्रार्थ ग्रहण रूप शिक्षा धारण करना, और कामभोगो के निमित्त शरीर की शुश्रूषा भूल कर भी नही करना चाहिये।

मूलः—अण्णायया अलोभे य, तितिक्खा अज्जवे सुई।
सम्मदिट्ठी समाही य, आयारे विणओवए ॥८॥

छायाः—अज्ञातता अलोभश्च, तितिक्षा आर्जवः शुचिः।
सम्यग्दृष्टिः समाधिश्च आचारोविनयोपेतः ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अण्णायया) दूसरो को कहे बिना ही तप करना (अलोभे) लोभ नही करना (तितिक्खा) परीषहो को सहन करना (अज्जवे) निष्कपट रहना (सुई) सत्य से शुचिता रखना (सम्मदिट्ठी) श्रद्धा को शुद्ध रखना (य) और (समाही) स्वस्थचित्त रहना (आयारे) सदाचारी होकर कपट न करना (विणओवए) विनयी होकर कपट न करना।

भावार्थ—हे गौतम ! तप व्रत धारण करके यश के लिए दूसरो को न कहना, इच्छित वस्तु पाकर उस पर लोभ न करना, दश-मशकादिको का परिषह उत्पन्न हो तो उसे सहर्ष सहन करना, निष्कपटतापूर्वक अपना सारा व्यवहार रखना, सत्य सयम द्वारा शुचिता रखना, श्रद्धा मे विपरीतता न आने देना, स्वस्थचित्त हो कर अपना जीवन बिताना, आचारवान हो कर कपट न करना और विनयी होना।

मूल—धिईमई य सवेगे, पणिहि सुविहि सवरे।
अत्तदोसोवसंहारे, सव्वकामविरत्तया ॥९॥

छाया:—धृतिमतिश्च सवेग प्रणिधि· सुविधि सवर ।
आत्म दोषापसहार· सर्वकामविरक्तता ॥९॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (धिईमई) अदीनवृत्ति से रहना, (सवेगे) ससार से विरक्त हो कर रहना, (पणिहि) कायादि के अशुभ योगो को रोकना, (सुविहि) सदाचार का सेवन करना । (सवरे) पापो के कारणो को रोकना, (अत्तदोसोवसहारे) अपनी आत्मा के दोषो का सहार करना, (य) और (सव्वकामविरत्तया) सर्व कामनाओ से विरत रहना ।

भावार्थ—हे गौतम ! दीन-हीन वृत्ति से सदा विमुख रहना, ससार के विषयो से उदासीन हो कर मोक्ष की इच्छा को हृदय मे धारण करना, मन-वचन-काया के अशुभ व्यापारो को रोक रखना, सदाचार सेवन मे रत रहना, हिंसा, झूंठ, चोरी, सग, ममत्व के द्वारा आते हुए पापो को रोकना, आत्मा के दोषो को ढूंढ-ढूंढ कर सहार करना, और सब तरह की इच्छाओ से अलग रहना ।

मूल—पच्चक्खाणे विउस्सग्गे, अप्पमादे लवालवे ।
ज्झाणसवरजोगे य, उदए मारणतिए ॥१०॥

छाया—प्रत्याख्यान व्युत्सर्ग, अप्रमादो लवालव ।
ध्यानसवर योगाश्च, उदये मारणान्तिके ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (पच्चक्खाणे) त्यागो की वृद्धि करना (विउस्सग्गे) उपाधि से रहित होना, (अप्पमादे) प्रमाद रहित रहना (लवालवे) अनुष्ठान करते रहना (ज्झाण) ध्यान करना (सवरजोगे) सवर का व्यापार करना, (य) और (मारणतिए) मारणातिक कष्ट (उदए) उदय होने पर भी क्षोभ नहीं करना ।

भावार्थ—हे गौतम ! त्याग धर्म की वृद्धि करते रहना, उपाधि से रहित होना, गर्व का परित्याग करना, क्षणमात्र के लिए भी प्रमाद न करना, सदैव अनुष्ठान करते रहना, सिद्धान्तो के गभीर आशयो पर विचार करते रहना, कर्मों के निरोध रूप सवर की प्राप्ति करना और मृत्यु भी यदि सामने आ खडी हो तब भी क्षोभ न करना ।

मूल.—संगाण य परिण्णाया, पायच्छित्त करणे वि य ।
आराहणा य मरणते, बत्तीसं जोगसंगहा ॥११॥

छाया:—सङ्गानाञ्च परिज्ञेया प्रायश्चित्तकरणमपि च ।
आराधना च मरणान्ते, द्वात्रिंशति· योग सग्रहा: ॥११॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (सगाण) सभोगो के परिणाम को (परिण्णाया) जान कर उनका त्याग करना (य) और (पायच्छित्त करणे) प्रायश्चित करना (आराहणा य मरणते) आराधक हो समाधिमरण से मरना, ये (बत्तीस) बत्तीस (जोगसगहा) योग सग्रह हैं ।

भावार्थ —हे गौतम ! स्वजनादि सग रूप स्नेह के परिणाम को समझ कर उसका परित्याग करना । भूल से गलती हो जावे तो उसके लिए प्रायश्चित करना, सयमी जीवन को सार्थक कर समाधि से मृत्यु लेना, ये बत्तीस शिक्षाएँ योग-बल को बढाने वाली है । अत· इन बत्तीस शिक्षाओ का अपने जीवन के साथ सम्वन्ध कर लेना मानो मुक्ति को वर लेना है ।

मूल·—अरहतसिद्धपवयणगुरूथेरबहुस्सुएतवस्सीसु ।
वच्छल्लया यसिं अभिक्खणाणोवओगे य ॥१२॥

छाया:—अर्हत्सिद्धप्रवचनगुरूस्थविर बहुश्रुतेषु तपस्विषु ।
वत्सलता तेषां अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगश्च ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अरहत) तीर्थंकर (सिद्ध) सिद्ध (पवयण) आगम (गुरू) गुरु महाराज (थेर) स्थविर (वहुस्सुए) बहुश्रुत (तवस्सीसु) तपस्वी मे (वच्छल्लया) वात्सल्य भाव रखता हो, (यसि) उनका गुण कीर्तन करता हो, (य) और (अभिक्ख) सदैव (णाणोवओगे) ज्ञान मे जो उपयोग रक्खे ।

भावार्थ —हे गौतम ! जो रागादि दोषो से रहित है, जिन्होंने घनघाती कर्मों को जीत लिया है, वे अरिहत हैं । जिन्होने सम्पूर्ण कर्मों को जीत लिया है, वे सिद्ध है । अहिंसामय सिद्धान्त और पच महाव्रतो को पालने वाले गुरु हैं । इनमे और स्थविर, वहुश्रुत, तपस्वी इन सभी मे वात्सल्य भाव रखता हो, इनके गुणो का हर जगह प्रसार करता हो और इसी तरह ज्ञान के ध्यान मे सदा लीन रहता हो ।

मूलः—दसणविणए आवस्सएय, सीलव्वए निरइयारो ।
खणलवतवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥१३॥

छाया—दर्शनविनय आवश्यक शीलव्रत निरतिचार ।
क्षणलवस्तपस्त्याग वैयावृत्य समाधिश्च ॥१३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (दसण) शुद्ध श्रद्धा रखता हो (विणए) विनयी हो (आवस्सए) आवश्यक-प्रतिक्रमण दोनो समय करता हो, (निरइयारो) दोषरहित (सीलव्वए) शील और व्रत को जो पालता हो, (खणलव) अच्छा ध्यान ध्याता हो अर्थात् सुपात्र को दान देने की भावना रखता हो (तव) तप करता हो (च्चियाए) त्याग करता हो, (वेयावच्चे) सेवा भाव रखता हो (य) और (समाही) स्वस्थचित्त से रहता हो ।

भावार्थः—हे गौतम ! जो शुद्ध श्रद्धा का अवलम्बी हो, नम्रता ने जिसके हृदय मे निवास कर लिया हो, दोनो समय—सध्या और सुबह अपने पापो की आलोचना रूप प्रतिक्रमण को जो करता हो, निर्दोष शील व्रत को जो पालता हो, आर्त्त रौद्र ध्यान को अपनी ओर झांकने तक न देता हो, अनशन व्रत का जो व्रती हो, या नियमित रूप से कम खाता हो, मिष्टान्न आदि का परित्याग करता हो, आदि इन बारह प्रकार के तपो मे से कोई भी तप जो करता हो, सुपात्र दान देता हो, जो सेवा भाव मे अपना शरीर अर्पण कर चुका हो, और सदैव चिन्ता रहित जो रहता हो ।

मूल—अप्पुव्वणाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्त लहइ जीओ ॥१४॥

छाया—अपूर्वज्ञानग्रहण, श्रुतभक्ति प्रवचनप्रभावनया ।
एतै कारणैस्तीर्थकरत्व लभते जीव ॥१४॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! जो (अप्पुव्वणाणगहणे) अपूर्व ज्ञान को ग्रहण करता हो (सुयभत्ती) सूत्र शास्त्रो को आदर की दृष्टि से देखता हो, (पवयणे) निर्ग्रन्थ प्रवचन की (पभावणया) प्रभावना करता हो, (एएहिं) इन (कारणेहिं) सम्पूर्ण कारणो से (जीओ) जीव (तित्थयरत्त) तीर्थंकरत्व को (लइह) प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—हे आर्य ! आये दिन कुछ न कुछ नवीन ज्ञान को जो ग्रहण करता रहता हो, सूत्र के सिद्धान्तो को आदर-भावो से जो अपनाता हो, जिन शासन की प्रभावना उन्नति के लिए नये-नये उपाय जो ढूढ निकालता हो, इन्ही कारणो मे से किसी एक बात का भी प्रगाढ रूप से सेवन जो करता हो, वह फिर चाहे किसी भी जाति व कौम का क्यो न हो, भविष्य मे तीर्थंकर होता है।

मूलः—पाणाइवायमलिय, चोरिक्क मेहुण दवियमुच्छं ।
कोह माण माय, लोभ पेज्जं तहा दोसं ॥१५॥
कलह अब्भक्खाणं, पेसुन्न रइअरइसमाउत्तं ।
परपरिवायं माया, मोसं मिच्छत्तसल्लं च ॥१६॥

छाया—प्राणातिपातमलीक चौर्यं मैथुन द्रव्यमूर्च्छाम् ।
क्रोधं मान मायां लोभं प्रेमं तथा द्वेषम् ॥१५॥
कलहमभ्याख्यान पैशुन्य रत्यरती सम्यगुक्तम् ।
परपरिवाद मायामृषा मिथ्यात्वशल्य च ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पाणाइवाय) प्राणातिपात-हिंसा (अलिय) झूंठ (चोरिक्क) चोरी (मेहुण) मैथुन (दवियमुच्छ) द्रव्य मे मूर्छा (कोह) क्रोध (माणं) मान (माय) माया (लोभ) लोभ (पेज्ज) राग (तहा) तथा (दोस) द्वेष (कलह) लडाई (अब्भक्खाण) कलक (पेसुन्न) चुगली (परपरिवाय) परापवाद (रइअरइ) अधर्म मे आनद और धर्म मे अप्रसन्नता (मायमोस) कपट युक्त झूंठ (च) और (मिच्छत्तसल्ल) मिथ्यात्व रूप शल्य, इस प्रकार अठारह पापो का स्वरूप ज्ञानियो ने (समाउत्त) अच्छी तरह कहा है।

भावार्थः—हे गौतम ! प्राणियो के दश प्राणो मे से किसी भी प्राण को हनन करना, मन-वचन-काया से दूसरो के मन तक को भी दुखाना, हिंसा है। इस हिंसा से यह आत्मा मलीन होता है। इसी तरह झूंठ बोलने से, चोरी करने से, मैथुन सेवन से, वस्तु पर मूर्छा रखने से, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष करने से, और परस्पर लडाई-झगडा करने से, किसी निर्दोष पर कलक का आरोप करने से, किसी की चुगली खाने से, दूसरो के अवगुणा-

वाद वोलने से, और इसी तरह अधर्म मे प्रसन्नता रखने से और धर्म मे अप्रसन्नता दिखाने से, दूसरो को ठगने के लिये कपटपूर्वक झूठ का व्यवहार करने से, और मिथ्यात्व रूप शल्य के द्वारा पीडित रहने से, अर्थात् कुदेव कुगुरु, कुधर्म के मानने से, आदि इन्ही अठारह प्रकार के पापो से जकडी हुई यह आत्मा नाना प्रकार के दु ख उठाती हुई, चौरासी लाख योनियो मे परिभ्रमण करती रहती है ।

मूलः—अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणापराघाते ।
फासे आणापाणू, सत्तविह झिज्झए आउ ॥१७॥

छाया—अध्यवसाननिमित्ते आहार· वेदना पराघात· ।
स्पर्श आनप्राण सप्तविध क्षियते आयु ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (आउ) आयु (सत्तविह) सात प्रकार से (झिज्झए) टूटता है । (अज्झवसाणनिमित्ते) भयात्मक अध्यवसाय और दण्ड लकडी कशा चावुक शस्त्र आदि निमित्त (आहारे) अधिक आहार (वेयणा) शारीरिक वेदना (पराघाते) खड्डे आदि मे गिरने के निमित्त (फासे) सर्पादिक का स्पर्श (आणापाणू) उच्छ्वास निश्वास का रोकना आदि कारणो से आयु का क्षय होता है ।

भावार्थ—हे आर्य ! सात कारणो से आयु अकाल मे ही क्षीण होती है । वे यो है—राग, स्नेह, भयपूर्वक अध्यवसाय के आने से, दड (लकडी) कशा (चाबुक) शस्त्र आदि के प्रयोग से, अधिक भोजन खा लेने से, नेत्र आदि की अधिक व्याधि होने से, खड्डे आदि मे गिर जाने से, और उच्छ्वास निश्वास के रोक देने से ।

मूल—जह मिउलेवालित्तं, गरुय तुब अहो वयइ एव ।
आसवकयकम्मगुरू, जीवा वच्चति अहरगइ ॥१८॥

छाया·—यथा मृल्लेपालिप्त गुरु तुम्ब अधोव्रजत्येव ।
आस्रवकायकर्मगुरवो जीवा व्रजन्त्यधोगतिम् ॥१८॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (मिउलेवालित्त) मिट्टी के लेप से लिपटा हुआ वह (गरुय) भारी (तुव) तूंवा (अहो) नीचा (वयइ) जाता है। (एव) इसी तरह (आसवकयकम्मगुरू) आस्रव कृत कर्मों द्वारा भारी हुआ (जीवा) जीव (अहरगइ) अधोगति को (वच्चति) जाते है।

भावार्थः—हे गौतम ! जैसे मिट्टी का लेप लगने से तूंवा भारी हो जाता है, अगर उसको पानी पर रख दिया जाय तो वह उसकी तह तक नीचा ही चला जायगा ऊपर नही उठेगा। इसी तरह हिंसा, झूंठ, चोरी, मैथुन और मूर्छा आदि आस्रव-रूप कर्म कर लेने से, यह आत्मा भी भारी हो जाता है। और यही कारण है कि तव यह आत्मा अवोगति को अपना स्थान वना लेता है।

मूलः—तं चेव तव्विमुक्क, जलोर्वारि ठाइ जायलहुभावं।
जह तह कम्मविमुक्का, लोयग्गपइट्ठिया होंति ॥१९॥

छाया—स चैव तद्विमुक्तः जलोपरि तिष्ठति जातलघुभाव।
यथा तथा कर्मविमुक्ता लोकाग्रप्रतिष्ठिता भवन्ति ॥१९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (त चेव) वही तूंवा (तव्विमुक्क) उस मिट्टी के लेप से मुक्त होने पर (जायलहुभाव) हलका हो जाता है, तव (जलोर्वारि) जल के ऊपर (ठाइ) ठहरा रह सकता है। (तह) उसी प्रकार (कम्मविमुक्का) कर्म से मुक्त हुए जीव (लोयग्गपइट्ठिया) लोक के अग्रभाग पर स्थित (होंति) होते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! मिट्टी के लेप से मुक्त होने पर वही तूंबा जैसे पानी के ऊपर आ जाता है, वैसे ही आत्मा भी कर्म रूपी बन्धनो से सम्पूर्ण प्रकार से मुक्त हो जाने पर लोक के अग्र भाग पर जाकर स्थित हो जाता है। फिर इस दुखमय ससार मे उसको चक्कर नही लगाना पडता।

॥ श्रीगौतमउवाच ॥

मूल—कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कह आसे ? कहं सए।
कह भुंजंतो ? भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ॥२०॥

छाया:—कथञ्चरेत् ? कथ तिष्ठेत् ? कथमासीत् कथ शयीत् ।
कथ भुञ्जानो भाषमाण पाप कर्म न बध्नाति ॥२०॥

अन्वयार्थ—हे प्रभु ! (कह) कैसे (चरे) चलना ? (कह) कैसे (चिट्ठे) ठहरना ? (कह) कैसे (आसे) बैठना ? (कह) कैसे (सए) सोना ? जिससे (पाव) पाप (कम्म) कर्म (न) नहीं (बधई) बँधते, और (कह) किस प्रकार (भुजतो) खाते हुए, एव (भासतो) बोलते हुए पाप कर्म नही बँधते ।

भावार्थ—हे प्रभु ! कृपा करके इस सेवक के लिए फरमावें कि किस तरह चलना, खडे रहना, बैठना, सोना, खाना और बोलना चाहिए जिससे इस आत्मा पर पाप कर्मों का लेप न चढने पावे ।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूल—जय चरे जय चिट्ठे, जय आसे जय सए ।
जय भुंजतो भासतो पाव कम्म न बधई ॥२१॥

छाया—यत चरेत् यत तिष्ठेत् यतमासीत् यतं शयीत् ।
यत भुञ्जानो भाषमाण पाप कर्म न बध्नाति ॥२१॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जय) यत्नापूर्वक (चरे) चलना (जय) यत्नापूर्वक (चिट्ठे) ठहरना (जय) यत्नापूर्वक (आसे) बैठना (जय) यत्नापूर्वक (सए) सोना, जिससे (पाव) पाप (कम्म) कर्म (न) नही (बधई) बँधता है। इसी तरह (जय) यत्नापूर्वक (भुजतो) खाते हुए (भासतो) और बोलते हुए भी पाप कर्म नही बँधते ।

भावार्थ—हे गौतम ! हिसा, झूठ, चोरी आदि का जिसमे तनिक भी व्यापार न हो ऐसी सावधानी को यत्ना कहते हैं। यत्नापूर्वक चलने से, खडे रहने से, बैठने से और सोने से पाप कर्मो का बधन इस आत्मा पर नही होता है। इसी तरह यत्नापूर्वक भोजन करते हुए और बोलते हुए भी पाप कर्मों का बध नही होता है। अतएव, हे आर्य ! तू अपनी दिन-चर्या को खूब ही साव-धानी पूर्वक बना, जिससे आत्मा अपने कर्मों के द्वारा भारी न हो ।

मूल—पच्छा वि ते पयाया
खिप्प गच्छति अमरभवणाइं ।
जेसि पियो तवो सजमो
य खती य बम्भचेरं च ॥२२॥

छाया—पश्चादपि ते प्रयाता:
क्षिप्र गच्छन्त्यमर भवनाति ।
येषा प्रियं तप सयमश्च
शान्तिश्च ब्रह्मचर्यं च ॥२२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पच्छा वि) पीछे भी अर्थात् वृद्धावस्था मे (ते) वे मनुष्य (पयाया) सन्मार्ग को प्राप्त हुए हो (य) और (जेसि) जिस को (तवो) तप (सजमो) सयम (य) और (खती) क्षमा (च) और (बम्भचेर) ब्रह्मचर्य (पियो) प्रिय है, वे (खिप्प) शीघ्र (अमरभवणाइं) देव-भवनो को (गच्छति) जाते हैं ।

भावार्थः—हे आर्य ! जो धर्म की उपेक्षा करते हुए वृद्धावस्था तक पहुंच गये है उन्हे भी हताश न होना चाहिए । अगर उस अवस्था मे भी वे सदाचार को प्राप्त हो जायें, और तप, सयम, क्षमा, ब्रह्मचर्य को अपना लाडला साथी बना लें, तो वे लोग देवलोक को प्राप्त हो सकते हैं ।

मूल—तवो जोई जीवो जोइठाण,
जोगा सुया सरीर कारिसग ।
कम्मेहा संजम जोगसंती,
होम हुणामि इसिण पसत्थं ॥२३॥

छाया:—तपो ज्योतिर्जीवोज्यातिः स्थान
योगाः स्रुच शरीरं करीषाङ्गम् ।
कर्मैधा सयमयोगा शान्तिर्होमेन
जुहोम्यृषिणा प्रशस्तेन ॥२३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तवो) तप रूप तो (जोई) अग्नि (जीवो) जीव रूप (जोइठाण) अग्नि का स्थान (जोगा) योग रूप (सुया) कड़छी (सरीर) शरीर रूप (कारिसग) कण्डे (कम्मेहा) कर्म रूप इँधन-काष्ठ (सजम जोग) सयम व्यापार रूप (सती) शाति-पाठ है। इस प्रकार का (इसिण) ऋषियो से (पसत्थ) श्लाघनीय चारित्र रूप (होम) होम को (हुणामि) करता हूँ।

भावार्थः—हे गौतम ! तप रूप जो अग्नि है, वह कर्म रूप इँधन को भस्म करती है। जीव अग्नि का कुण्ड है। क्योकि तप रूप अग्नि जीव सबधिनी ही है एतदर्थ जीव ही अग्नि रखने का कुण्ड हुआ। जिस प्रकार कडछी से घी आदि पदार्थों को डाल कर अग्नि को प्रदीप्त करते हैं। ठीक उसी प्रकार मन, वचन और काया के शुभ व्यापारो के द्वारा तप रूप अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए। परन्तु शरीर के विना तप नही हो सकता है। इसीलिये शरीर रूप कण्डे, कर्म रूप इँधन और सयम व्यापार रूप शान्ति पाठ पढ करके, मैं इस प्रकार ऋषियो के द्वारा प्रशसनीय चारित्र साधन रूप यज्ञ को प्रतिदिन करता रहता हूँ।

मूल.—धम्मे हरए बम्भे सतितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिं सिण्णाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीतिभूओ पजहामि दोस ॥

छायाः—धर्मो ह्रदो ब्रह्म शान्तितीर्थ-
मनाविल आत्मप्रसन्नलेश्य.।
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्ध.
सुशीतीभूत प्रजहामि दोपम् ॥२४॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (अणाविले) मिथ्यात्व करके रहित स्वच्छ (अत्तपसन्नलेसे) आत्मा के लिए प्रशसनीय और अच्छी भावनाओ को उत्पन्न करने वाला ऐसा जो (धम्मे) धर्म रूप (हरए) द्रह और (बम्भे) ब्रह्मचर्य रूप (सतितित्थे) शान्तितीर्थ है। (जहिं) उस मे (सिण्णाओ) स्नान करने से तथा

उस तीर्थ मे आत्मा के पर्यटन करते रहने से (विमलो) निर्मल (विसुद्धो) शुद्ध और (सुसीतिभूओ) राग-द्वेषादि से रहित वह हो जाता है। उसी तरह मैं भी उस द्रह और तीर्थ का सेवन करके (दोस) अपनी आत्मा को दूषित करे, उस कर्म को (पजहामि) अत्यन्त दूर करता हूँ।

भावार्थः—हे आर्य ! मिथ्यात्वादि पापो से रहित और आत्मा के लिए प्रशसनीय एव उच्च भावनाओ को प्रगट करने मे सहाय्यभूत ऐसा, जो स्वच्छ धर्म रूप द्रह है उसमे इस आत्मा को स्नान कराने से, तथा ब्रह्मचर्य रूप शान्ति-तीर्थ की यात्रा करने से शुद्ध निर्मल और रागद्वेषादि से रहित यह हो जाता है। अतः मैं भी धर्म रूप द्रह और ब्रह्मचर्य रूप तीर्थ का सेवन करके आत्मा को दूषित करने वाले अशुभ कर्मो को सागोपाग नष्ट कर रहा हूँ। बस, यह आत्म-शुद्धि का स्नान और उसकी तीर्थ-यात्रा है।

॥ इति चतुर्थोऽध्याय. ॥

ॐ
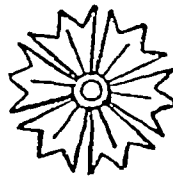
निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(पांचवां अध्याय)

ज्ञान प्रकरण

(श्री भगवानुवाच)

मूलः—तत्थ पचविह नाण, सुअ अभिणिबोहिअ ।
ओहिणाणं च तइअ, मणणाण च केवल ॥१॥

छायाः—तत्र पञ्चविध ज्ञान, श्रुतमाभिनिवोधिकम् ।
अवधिज्ञान च तृतीय, मनोज्ञान च केवलम् ॥१॥

अन्वयार्थ·—हे इन्द्रभूति (तत्थ) ज्ञान के सम्वन्ध मे (नाण) ज्ञान (पचविह) पांच प्रकार का है, वह यो है —(सुअ) श्रुत (अभिणिवोहिअ) मति (तइअ) तीसरा (ओहिणाण) अवधिज्ञान (च) और (मणणाण) मन पर्यवज्ञान (च) और पांचवां (केवल) केवलज्ञान है ।

भावार्थः—हे आर्य ! ज्ञान पांच प्रकार का होता है, वे पांच प्रकार यो हैं —(१) मतिज्ञान के द्वारा श्रवण करते रहने से पदार्थ का जो स्पष्ट भेदाभेद ज्ञान पडता है वह श्रुतज्ञान[1] है । (२) पांचो इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान कहलाता है । (३) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की

---

१ नदीसूत्र मे श्रुतज्ञान का दूसरा नम्बर है । परन्तु उत्तराध्ययन सूत्र मे श्रुतज्ञान को पहला नम्वर दिया गया है । इसका तात्पर्य यो है कि पांचो ज्ञानो मे श्रुत-ज्ञान विशेष उपकारी है । इसलिए यहाँ श्रुतज्ञान को पहले ग्रहण किया है ।

मर्यादा पूर्वक रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानना यह **अवधिज्ञान** है। (४) दूसरो के हृदय मे स्थित भावो को प्रत्यक्ष रूप से जान लेना **मन पर्यवज्ञान** है। और (५) त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तरेखावत् जान लेना **केवलज्ञान** कहलाता है।

मूल·—अह सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणंत।
सासयमप्पडिवाई एगविह केवलं नाण ॥२॥

छाया:—अथ सर्वद्रव्यपरिणाम भावविज्ञप्ति कारणमनन्तम्।
शाश्वतमप्रतिपाति च, एकविध केवल ज्ञानम् ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (केवल) कैवल्य (नाण) ज्ञान (एगविह) एक प्रकार का है। (सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारण) सर्व द्रव्यो की उत्पत्ति, ध्रौव्य, नाश और उनके गुणो का विज्ञान कराने मे कारणभूत है। इसी प्रकार (अणत) ज्ञेय पदार्थों की अपेक्षा से अनत है, एव (सासय) शाश्वत और (अप्पडिवाई) अप्रतिपाती है।

भावार्थ·—हे गौतम! कैवल्य ज्ञान का एक ही भेद है। और वह सर्व द्रव्य मात्र के उत्पत्ति, विनाश, ध्रुवता और उनके गुणो एव पारस्परिक पदार्थों की भिन्नता का विज्ञान कराने मे कारणभूत है। इसी प्रकार ज्ञेय पदार्थ अनत होने से इसे अनत भी कहते है और यह शाश्वत भी है। केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् पुन नष्ट नही होता है इसलिए यह अप्रतिपाती भी है।

मूल.—एय पचविह णाणं, दव्वाण य गुणाण य।
पज्जवाण च सव्वेसि, नाण नाणीहि देसियं ॥३॥

छाया:—एतत् पञ्चविध ज्ञानम्, द्रव्याणाम् च गुणाणाच।
पर्यवाणां च सर्वेषा, ज्ञान ज्ञानिभिर्दर्शितम् ॥३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (एय) यह (पचविह) पाँच प्रकार का (नाण) ज्ञान (सव्वेसिं) सर्व (दव्वाण) द्रव्य (य) और (गुणाण) गुण (य) और (पज्जवाण) पर्यायो को (नाण) जानने वाला है, ऐसा (नाणीहि) तीर्थंकरो द्वारा (देसिय) कहा गया है।

भावार्थः—हे गौतम ! ससार मे ऐसा कोई भी द्रव्य, गुण या पर्याय नही है जो इन पाँच ज्ञानो से न जाना जा सके। प्रत्येक ज्ञेय पदार्थ यथायोग्य रूप से किसी न किसी ज्ञान का विषय होता ही है। ऐसा सभी तीर्थंकरो ने कहा है।

मूल.—पढम नाण तओ दया, एव चिट्ठइ सव्वसजए।
अन्नाणी किं काही कि वा, नाहिइ छेयपावग ॥४॥

छाया—प्रथम ज्ञान ततो दया, एव तिष्ठति सर्व सयत·।
अज्ञानी किं करिष्यति, किं वा ज्ञास्यति श्रेयः पापकम् ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पढम) पहले (नाण) ज्ञान (तओ) फिर (दया) जीव रक्षा (एव) इस प्रकार (सव्वसजए) सव साधु (चिट्ठइ) रहते हैं। (अन्नाणी) अज्ञानी (किं) क्या (काही) क्या करेगा ? (वा) और (किं) कैसे वह अज्ञानी (छेय पावग) श्रेयस्कर और पापमय मार्ग को (नाहिइ) जानेगा ?

भावार्थः—हे गौतम ! पहले जीव रक्षा सवधी ज्ञान की आवश्यकता है। क्योंकि, विना ज्ञान के जीव-रक्षा रूप क्रिया का पालन किसी भी प्रकार हो नही सकता, पहले ज्ञान होता है, फिर उस विषय मे प्रवृत्ति होती है। सयमशील जीवन विताने वाला मानव वर्ग भी पहले ज्ञान ही का सम्पादन करता है, फिर जीव रक्षा के लिए कटिवद्ध होता है। सच है, जिनको कुछ भी ज्ञान नही है, वे क्या तो दया का पालन करेंगे ? और क्या हिताहित ही को पहचानेंगे ? इसलिए सवसे पहले ज्ञान का सम्पादन करना आवश्यकीय है। यहाँ 'दया' शब्द उपलक्षण है, इसलिए उससे प्रत्येक क्रिया का अर्थ समझना चाहिए।

मूलः—सोच्चा जाणइ कल्लाण, सोच्चा जाणइ पावग।
उभय पि जाणई सोच्चा, ज छेय तं समायरे ॥५॥

छाया—श्रुत्वा जानाति कल्याण, श्रुत्वा जानाति पापकम्।
उभयेऽपि जानाति श्रुत्वा, यच्छ्रेयस्तत् समाचरेत् ॥५॥

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति ! (सोच्चा) सुन कर (कल्लाण) कल्याणकारी मार्ग को (जाणइ) जानता है, और (सोच्चा) सुनकर (पावग) पापमय मार्ग

को (जाणइ) जानता है। (उभय पि) और दोनो को भी (सोच्चा) सुनकर (जाणई) जनता है। (ज) जो (छेयं) अच्छा हो (त) उसको (समायरे) अगीकार करे।

भावार्थः—हे गौतम ! सुनने से हित-अहित, मगल-अमगल, पुण्य और पाप का बोध होता है। और बोध हो जाने पर यह आत्मा अपने आप श्रेयस्कर मार्ग को अगीकार कर लेता है। और इसी मार्ग के आधार पर आखिर मे अनत सुखमय मोक्षधाम को भी यह पा लेता है। इसलिए महर्षियो ने श्रुतज्ञान ही को प्रथम स्थान दिया है।

मूलः—जहा सूई ससुत्ता, पडिआ वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, ससारे न विणस्सइ ॥६॥

छायाः—यथा शूची ससूत्रा, पतिताऽपि न विनश्यते।
तथा जीवः ससूत्र·, ससारे न विनश्यते ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (ससुत्ता) सूत्र सहित—धागे के साथ (पडिआ) गिरी हुई (सूई) सूई (न) नही (विणस्सइ) खोती है। (तहा) उसी तरह (ससुत्ता) सूत्र श्रुत-ज्ञान सहित (जीवे) जीव (ससारे) ससार मे (वि) भी (न) नही (विणस्सइ) नाश होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार धागे वाली सुई गिर जाने पर भी खो नही सकती, अर्थात् पुन शीघ्र मिल जाती है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान संयुक्त आत्मा कदाचित् मिथ्यात्वादि अशुभ कर्मोदय से सम्यक्त्व धर्म से च्युत हो भी जाय तो वह आत्मा पुनः रत्नत्रय रूप धर्म को शीघ्रता से प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त श्रुतज्ञानवान् आत्मा ससार मे रहते हुए भी दुःखी नही होता अर्थात् समता और शान्ति से अपना जीवन व्यतीत करता है।

मूलः—जावंतऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुक्खसभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणतए ॥७॥

छाया—यावन्तोऽविद्या.पुरुषाः, सर्वे ते दुःखसंभवाः।
लुप्यन्ते बहुशो मूढाः, संसारे अनन्तके ॥७॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जावत) जितने (अविज्जा) तत्त्वज्ञान रहित (पुरिसा) मनुष्य हैं (ते) वे (सव्वे) सब (दुक्खसम्भवा) दु ख उत्पन्न होने के स्थान रूप हैं । इसी से वे (मूढा) मूर्ख (अणतए) अनत (ससारम्मि) ससार मे (बहुसो) अनेको वार (लुप्पति) पीडित होते हैं ।

भावार्थ—हे गौतम ! तत्त्वज्ञान से हीन जितने भी आत्मा हैं, वे सबके सब अनेको दु खो के भागी हैं । इस अनत ससार की चक्र फेरी मे परिभ्रमण करते हुए वे नाना प्रकार के दु खो को उठाते हैं । उन आत्माओ का क्षणभर के लिए भी अपने कृत कर्मों को भोगे विना छुटकारा नही होता है । हे गौतम ! इस कदर ज्ञान की मुख्यता बताने पर तुझे यो न समझ लेना चाहिए कि मुक्ति केवल ज्ञान ही से होती है वल्कि उसके साथ क्रिया की भी जरूरत है । ज्ञान और क्रिया इन दोनों के होने पर ही मुक्ति हो सकती है ।

मूल:—इहमेगे उ मण्णंति, अप्पच्चक्खाय पावगं ।
आयरिअं विदित्ताण, सव्वदुक्खा विमुच्चई ।।८।।

छाया—इहैके तु मन्यन्ते अप्रत्याख्याय पापकम् ।
आर्यत्व विदित्वा, सर्वदु खेभ्यो विमुच्यन्त ।।८।।

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (उ) फिर इस विषय मे (इह) यहाँ (मेगे) कई एक मनुष्य यो (मण्णति) मानते हैं कि (पावग) पाप का (अप्पच्चक्खाय) विना त्याग किये ही केवल (आयरिअ) अनुष्ठान को (विदित्ताण) जान लेने ही से (सव्वदुक्खा) सब दु खो से (विमुच्चई) मुक्त हो जाता है ।

भावार्थ—हे आर्य ! कई एक लोग ऐसे भी हैं, जो यह मानते हैं कि पाप के विना ही त्यागे, अनुष्ठान मात्र को जान लेने से मुक्ति हो जाती है । पर उनका ऐसा मानना नितान्त असगत है । क्योकि अनुष्ठान को जान लेने ही से मुक्ति नही हो जाती है । मुक्ति तो तभी होगी, जब उस विषय में प्रवृत्ति की जायगी । अत मुक्ति पथ मे ज्ञान और क्रिया दोनो की आवश्यकता होती है । जिसने सद् ज्ञान के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करली है, उसके लिए मुक्ति सचमुच ही अति निकट हो जाती है । अकेले ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है ।

मूलः—भणंता अकरिता य, बंधमोक्खपइण्णिणो ।
वायाविरियमत्तेण, समासासति अप्पय ॥९॥

छायाः—भणन्तोऽकुर्वन्तश्च, बन्धमोक्ष प्रतिज्ञिनः ।
वाग्वीर्यमात्रेण, समाश्वसन्त्यात्मानम् ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (वधमोक्खपइण्णिणो) ज्ञान ही को वध और मोक्ष का कारण मानने वाले, कई एक लोग ज्ञान ही से मुक्ति होती है, ऐसा (भणता) बोलते है । (य) परन्तु (अकरिता) अनुष्ठान वे नही करते । अत वे लोग (वायाविरियमत्तेण) इस प्रकार वचन की वीरता मात्र ही से (अप्पय) आत्मा को (समासासति) अच्छी तरह आश्वासन देते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! कर्मो का वधन और शमन एक ज्ञान ही से होता है, ऐसा दावा—प्रतिज्ञा करने वाले कई एक लोग अनुष्ठान की उपेक्षा करके यो बोलते हैं, कि ज्ञान ही से मुक्ति हो जाती है, परन्तु वे एकान्त ज्ञानवादी लोग केवल अपने बोलने की वीरता मात्र ही से अपने आत्मा को विश्वास देते है, कि हे आत्मा ! तू कुछ भी चिन्ता मत कर । तू पढ़ा-लिखा है, बस, इसी से कर्मों का मोचन हो जावेगा । तप, जप किसी भी अनुष्ठान की आवश्यकता नही है । हे गौतम ! इस प्रकार आत्मा को आश्वासन देना, मानो आत्मा को धोखा देना है । क्योकि, ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान करने ही से कर्मों का मोचन होता है । इसीलिए मुक्ति-पथ मे ज्ञान और क्रिया दोनो की आवश्यकता होती है ।

मूलः—ण चित्ता तायए भासा; कओ विज्जाणुसासण ।
विसण्णो पावकम्मेहिं, बाला पडियमाणिणो ॥१०॥

छायाः—न चित्रास्त्रायन्ते भाषाः, कुतो विद्यानुशासनम् ।
विपण्णः पापकर्मभिः, बाला पण्डितमानिनः ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (पडियमाणिणो) अपने आपको पण्डित मानने वाले (बाला) अज्ञानी जन (पावकम्मेहिं) पाप कर्मों द्वारा (विसण्णा) फँसे हुए यह नही जानते है कि (चित्ता) विचित्र प्रकार की (भासा) भाषा (तायए)

त्राण-शरण (ण) नहीं होती है। तो फिर (विज्जाणुसासण) तान्त्रिक या कला-कौशल की विद्या सीख लेने पर (कओ) कहाँ से त्राण शरण होगी।

भावार्थः—हे गौतम! थोड़ा-बहुत लिख-पढ़ जाने ही से मुक्ति हो जायगी इस प्रकार का गर्व करने वाले लोग मूर्ख है। कर्मो के आवरण ने उनके असली प्रकाश को ढक रक्खा है। वे यह नही जानते कि प्राकृत सस्कृत आदि अनेको विचित्र भाषाओ के सीख लेने पर भी परलोक मे कोई भाषा रक्षक नही हो सकती है। तो फिर बिना अनुष्ठान के तान्त्रिक कला-कौशल की साधारण विद्या की तो पूछ ही क्या है? वस्तुत साधारण पढ-लिखकर यह कहना कि ज्ञान ही से मुक्ति हो जायगी, आत्मा को धोखा देना है, आत्मा को अधोगति मे डालना है।

मूल—जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे अ सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसम्भवा ॥११॥

छाया—ये केचित् शरीरे सक्ता, वर्णे रूपे च सर्वशः।
मनसा कायवाक्येन, सर्वे ते दुःखसंभवा ॥११॥

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति! (जे केइ) जो कोई भी ज्ञानवादी (मणसा) मन (कायवक्केण) काय, वचन करके (सरीरे) शरीर मे (वण्णे) वर्ण मे (रूवे) रूप मे (अ) शब्दादि मे (सव्वसो) सर्वथा प्रकार से (सत्ता) आसक्त रहते हैं (ते) वे (सव्वे) सब (दुक्खसम्भवा) दुःख उत्पन्न होने के स्थान रूप हैं।

भावार्थ—हे गौतम! ज्ञानवादी अनुष्ठान को छोड देते हैं। और रूप गर्व मे मदोन्मत्त होने वाले अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट रखने के लिए वर्ण, गध, रस, स्पर्श, आदि मे मन, वचन, काया से पूरे-पूरे आसक्त रहते हैं, फिर भी वे मुक्ति की आशा करते है। यह मृग-पिपासा है, अन्तत ये सब दुःख ही के भागी होते हैं।

मूल—निम्ममो निरहकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ॥१२॥

छायाः—निर्ममो निरहङ्कारः, निस्संगस्त्यक्तगौरवः ।
समश्च सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! महापुरुष वही है, जो (निम्ममो) ममतारहित (निरहकारो) अहकाररहित (निस्सगो) बाह्य अभ्यन्तर सगरहित (अ) और (चत्तगारवो) त्याग दिया है अभिमान को जिसने (सव्वभूएसु) तथा सर्व प्राणी मात्र क्या (तसेसु) त्रस (अ) और (थावरेसु) स्थावर मे (समो) समान भाव है जिसका ।

भावार्थः—हे गौतम ! महापुरुष वही है जिसने ममता, अहकार, सग, बडप्पन आदि सभी का साथ एकान्त रूप से छोड दिया है । और जो प्राणी मात्र पर फिर चाहे वह कीडे-मकोडे के रूप मे हो, या हाथी के रूप मे, सभी के ऊपर समभाव रखता है ।

मूल—लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदापसंसासु समो माणावमाणओ ॥१३॥

छायाः—लाभालाभे सुखे दुःखे, जीविते मरणे तथा ।
समो निन्दाप्रशसासु, समो मानापमानयोः ॥१३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! महापुरुष वही है जो (लाभालाभे) प्राप्ति-अप्राप्ति मे (सुहे) सुख मे (दुक्खे) दु ख मे (जीविए) जीवन मे (मरणे) मरण मे (समो) समान भाव रखता है । तथा (निंदापससासु) निंदा और प्रशसा मे एव (माणावमाणओ) मान-अपमान मे (समो) समान भाव रखता है ।

भावार्थ—हे गौतम ! मानव देहधारियो मे उत्तम पुरुष वही है, जो इच्छित अर्थ की प्राप्ति-अप्राप्ति मे, सुख-दु ख मे, जीवन-मरण मे तथा निन्दा और स्तुति मे और मान-अपमान मे सदा समान भाव रखता है ।

मूल.—अणिस्सिओ इह लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचदणकप्पो अ, असणे अणसणे तहा ॥१४॥

छाया—अनिश्चित इह लोके, परलोकेऽनिश्चितः ।
वासी चन्दनकल्पश्च, अशनेऽनशने तथा ॥१४॥

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति ! (इह) इस (लोए) लोक मे (अणिस्सिओ) अनैश्रित (परलोए) परलोक मे (अणिस्सिओ) अनैश्रित (अ) और किसी के द्वारा (वासीचदणकप्पो) वसूले से छेदने पर या चदन का विलेपन करने पर और (असणे) भोजन खाने पर (तहा) तथा (अणसणे) अनशन व्रत, सभी मे समान भाव रखता हो, वही महापुरुष है।

भावार्थ.—हे गौतम ! मोक्षाधिकारी वे ही मनुष्य हैं, जिन्हे इस लोक के वैभवो और स्वर्गीय सुखो की चाह नहीं होती है। कोई उन्हें वसूले (शस्त्र विशेष) से छेदे या कोई उन पर चन्दन का विलेपन करे, उन्हें भोजन मिले या फाकाकशी करनी पडे, इन सम्पूर्ण अवस्थाओ मे सदा सर्वदा समभाव से रहते है।

॥ इति पञ्चमोऽध्याय ॥

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय छट्ठा)

सम्यक् निरूपण

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—अरिहंतो महदेवो, जावज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥१॥

छाया.—अर्हन्तो महदेवा:, यावज्जीव सुसाधवो गुरवः।
जिन प्रज्ञप्त तत्त्वं, इति सम्यक्त्व मया गृहीतम् ॥१॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (अरिहतो) अरिहत (महदेवो) बडे देव (सुसाहुणो) सुसाधु (गुरुणो) गुरु और (जिणपण्णत्तं) जिनराज द्वारा प्ररूपित (तत्त) तत्व को मानना यही सम्यक्त्व है (इअ) इस (सम्मत्त) सम्यक्त्व को (मए) मैंने (गहियं) ग्रहण किया ऐसी जिसकी बुद्धि है वही सम्यक्त्वधारी है।

भावार्थः—हे गौतम ! कर्म रूप शत्रुओ को नष्ट करके जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है और जो अष्टादश दोषो से रहित हैं वही मेरे देव हैं। पाँच महाव्रतो को यथायोग्य पालन करते हैं वह मेरे गुरु हैं। और वीतराग के कहे हुए तत्त्व ही मेरा धर्म है। ऐसी दृढ श्रद्धा को सम्यक्त्व कहते हैं। इस प्रकार के सम्यक्त्व को जिसने हृदयगम कर लिया है, वही सम्यक्त्वधारी है।

मूलः—परमत्थसथवो वा सुदिट्ठपरमत्थसेवणा यावि।
वावण्णकुदसणवज्जणा, य सम्मत्तसद्दहणा ॥२॥

छाया—परमार्थसस्तव सुदृष्टपरमार्थसेवनं वाऽपि।
व्यापन्नकुदर्शनवर्जन च सम्यक्त्वश्रद्धानम् ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (परमत्थसथवो) तात्त्विक पदार्थ का चिन्तवन करना (वा) और (सुदिट्ठपरमत्थसेवणा) अच्छी तरह से देखे हैं तात्त्विक अर्थ जिन्होंने उनकी सेवा शुश्रूषा करना (य) और (अवि) समुच्चय अर्थ मे (वावण्ण कुदसणवज्जणाए) नष्ट हो गया है सम्यक्त्व दर्शन जिसका, और जो दोषो से सहित है दर्शन जिसका, उसकी सगति परित्यागना, यही (सम्मत्तसद्हणा) सम्यक्त्व की श्रद्धना है।

भावार्थ—हे गौतम ! फिर जो वारवार तात्त्विक पदार्थ का चिन्तवन करता है। और जो अच्छी तरह से तात्त्विक अर्थ पर पहुँच गये हैं, उनकी यथा योग्य सेवा शुश्रूषा करता हो, यथा जो सम्यक्त्व दर्शन से पतित हो गये हैं, व जिनका "दर्शन सिद्धान्त" दूषित है, उनकी संगति का त्याग करता हो वही सम्यक्त्वपूर्वक श्रद्धावान् है।

मूल—कुप्पवयणपासडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिआ।
सम्मग्गं तु जिणक्खाय, एस मग्गे हि उत्तमे ॥३॥

छाया—कुप्रवचनपाषण्डिन., सर्व उन्मार्गप्रस्थिता।
सन्मार्गं तु जिनाख्यात, एष मार्गो ह्युत्तम ॥३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (कुप्पवयणपासडी) दूषित वचन कहने वाले (सव्वे) सभी (उम्मग्गपट्ठिआ) उन्मार्ग मे चलने वाले होते हैं। (तु) और (जिणक्खाय) श्री वीतराग का कहा हुआ मार्ग ही (सम्मग्ग) सन्मार्ग है। (एस) यह (मग्गे) मार्ग (हि) निश्चय रूप से (उत्तमे) प्रधान है। ऐसी जिसकी मान्यता है वही सम्यक्त्वपूर्वक श्रद्धावान् है।

भावार्थ—हे गोतम ! हिंसामय दूषित वचन बोलने वाले हैं वे सभी उन्मार्ग गामी हैं। राग-द्वेष रहित और आप्त पुरुषो का बताया हुआ मार्ग ही सन्मार्ग है। यही मार्ग सब से उत्तम है, प्रधान है, ऐसी जिसकी निश्चयपूर्वक है वही सम्यक् श्रद्धावान् है।

मूल —तहिआण तु[1] भावाण, सब्भावे उवएसण ।
भावेण सद्दहतस्स, सम्मत्त त विआहिअ ॥४॥

छाया:—तथ्यानाम् तु भावानाम् सद्भाव उपदेशनम् ।
भावेन श्रद्दधतः, सम्यक्त्व तद् व्याख्यातम् ॥४॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (सब्भावे) सद्भावना वाले के द्वारा कहे हुए (तहिआण) सत्य (भावाण) पदार्थों का (उवएसण) उपदेश (भावेण) भावना से (सद्दहतस्स त) श्रद्धापूर्वक वर्तने वाले को (सम्मत्त) सम्यक्त्वी ऐसा (विआहिअ) वीतरागो ने कहा है ।

भावार्थ —हे गौतम ! जिसकी भावना विशुद्ध है उसके द्वारा कहे हुए यथार्थ पदार्थों को जो भावनापूर्वक श्रद्धा के साथ मानता हो, वही सम्यक्त्वी है ऐसा सभी तीर्थंकरो ने कहा है ।

मूल —निस्सग्गुवएसरुई, आणरुई सुत्तवीअरुइमेव ।
अभिगमवित्थाररुई, किरियासखेवधम्मरुई ॥५॥

छाया·—निसर्गोपदेशरुचि , आज्ञारुचि सूत्रबीजरुचिरेव ।
अभिगमविस्ताररुचि , क्रियासक्षेपधर्मरुचि· ॥५॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (निस्सग्गुवएसरुई) विना उपदेश, स्वभाव से और उपदेश से जो रुचि हो (आणरुई) आज्ञा से रुचि हो (सुत्तवीअरुइमेव) श्रुत श्रवण से एव एक से अनेक अर्थ निकलते हो वैसे वचन सुनने से रुचि हो (अभिगमवित्थाररुई) विशेष विज्ञान होने पर तथा बहुत विस्तार से सुनने से रुचि हो (किरियासखेवधम्मरुई) क्रिया करते-करते तथा सक्षेप से या श्रुत धर्म श्रवण से रुचि हो ।

भावार्थ —हे गौतम ! उपदेश श्रवण न करके स्वभाव से ही तत्त्व की रुचि होने पर किसी-किसी को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है । किसी को उपदेश सुनने से, किसी को भगवान की इस प्रकार की आज्ञा है, ऐसा सुनने से,

---

१ तुशब्दस्तुपादपूर्त्यर्थं ।

सूत्रों के श्रवण करने से, एक शब्द को जो बीज की तरह अनेक अर्थ बताता हो ऐसा वचन सुनने से, विशेष विज्ञान हो जाने से, विस्तारपूर्वक अर्थ सुनने से, धार्मिक अनुष्ठान करने से, संक्षेप अर्थ सुनने से, श्रुत धर्म के मननपूर्वक श्रवण करने से तत्त्वों की रुचि होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

मूल —नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइअव्वं ।
सम्मत्तचरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥६॥

छाया —नास्ति चारित्रं सम्यक्त्वविहीनं, दर्शने तु भक्तव्यम् ।
सम्यक्त्व चारित्रे, युगपत् पूर्वं वा सम्यक्त्वम् ॥६॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (सम्मत्तविहूणं) सम्यक्त्व के बिना (चरित्तं) चारित्र (नत्थि) नही है (उ) और (दंसणे) दर्शन के होने पर (भइअव्वं) चारित्र भजनीय है। (सम्मत्तचरित्ताइं) सम्यक्त्व और चारित्र (जुगवं) एक साथ भी होते हैं। (व) अथवा (सम्मत्तं) सम्यक्त्व चारित्र के (पुव्वं) पूर्व भी होता है।

भावार्थ —हे आर्य ! सम्यक्त्व के बिना चारित्र का उदय होता ही नही है। पहले सम्यक्त्व होगा, फिर चारित्र हो सकता है, और सम्यक्त्व मे चारित्र का भावाभाव है, क्योकि सम्यक्त्वी कोई गृहस्थधर्म का पालन करता है, और कोई मुनिधर्म का। सम्यक्त्व और चारित्र की उत्पत्ति एक साथ भी होती है अथवा चारित्र के पहले भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है।

मूल —नादंसणिस्स नाणं,
नाणेण विणा न होंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं ॥७॥

छाया —नादर्शनिनो ज्ञानम्, ज्ञानेन विना न भवन्ति चरणगुणाः ।
अगुणिनो नास्ति मोक्षः, नास्त्यमोक्षस्य निर्वाणम् ॥७॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (अदंसणिस्स) सम्यक्त्व से रहित मनुष्य को (नाणं) ज्ञान (न) नही होता है। और (नाणेण) ज्ञान के (विणा) बि-

(चरणगुणा) चारित्र के गुण (न) नही (होंति) होते है। और (अगुणिस्स) चारित्र रहित मनुष्य को (मोक्खो) कर्मों से मुक्ति (नत्थि) नही होती है। और (अमुक्कस्स) कर्मरहित हुए बिना किसी को (निव्वाण) निर्वाण (नत्थि) नहीं प्राप्त हो सकता है।

भावार्थः—हे गौतम! सम्यक्त्व के प्राप्त हुए विना मनुष्य को सम्यक् ज्ञान नही मिलता है, ज्ञान के विना आत्मिक गुणो का प्रकट होना दुर्लभ है। विना आत्मिक गुण प्रकट हुए उसके जन्म-जन्मान्तरो के सचित कर्मों का क्षय होना दु.साध्य है और कर्मों का नाश हुए बिना किसी को मोक्ष नही मिल सकता है। अत. सब के पहले सम्यक्त्व की आवश्यकता है।

मूल—निस्संकिय-निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥८॥

छाया·—नि·शकित नि काक्षितम्, निर्विचिकित्साऽमूढदृष्टिच।
उपबृंहा-स्थिरीकरणे, वात्सल्यप्रभावतेऽष्टो ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! सम्यक्त्वधारी वही है, जो (निस्सकिय) नि शकित रहता है, (निक्कखिय) अतत्त्वो की काक्षारहित रहता है। (निव्वितिगिच्छा) सुकृतो के फल होने मे सदेह रहित रहता है। (य) और (अमूढदिट्ठी) जो अतत्त्वधारियो को ऋद्धिवन्त देख कर मोह न करता हुआ रहता है। (उववूह-थिरीकरणे) सम्यक्त्वी की दृढता की प्रशसा करता रहता है। सम्यक्त्व से पतित होते हुए को स्थिर करता (वच्छल्लपभावणे) स्वधर्मी जनो की सेवा-शुश्रूषा कर वात्सल्यभाव दिखाता रहता है। और आठवें मे जो सन्मार्ग की उन्नति करता रहता है।

भावार्थ·—हे आर्य! सम्यक्त्वधारी वही है, जो शुद्ध देव, गुरु, धर्मरूप तत्त्वो पर निःशकित होकर श्रद्धा रखता है। कुदेव कुगुरु कुधर्म रूप जो अतत्त्व है, उन्हे ग्रहण करने की तनिक भी अभिलाषा नही करता है। गृहस्थ-धर्म या मुनिधर्म से होने वाले फलो मे जो कभी भी सदेह नही करता। अन्य दर्शनी को धन-सम्पत्ति से भरा-पूरा देख कर जो ऐसा विचार नही करता कि मेरे दर्शन से इसका दर्शन ठीक है, तभी तो यह इतना धनवान् है। सम्यक्त्वधारियो की यथायोग्य प्रशसा करके जो उनके सम्यक्त्व के गुणो की वृद्धि करता है,

सम्यक्त्व से पतित होते हुए अन्य पुरुष को यथाशक्ति प्रयत्न करके सम्यक्त्व में जो दृढ करता है। स्वधर्मी जनो की सेवा-शुश्रूषा करके जो उनके प्रति वात्सल्य भाव दिखाता है।

मूल —मिच्छादसणरत्ता, सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा वोहि ॥९॥

छाया —मिथ्यादर्शनरक्ता, सनिदाना हि हिंसका।
इति ये म्रियन्ते जीवा, तेषा पुन दुर्लभा वोधि ॥९॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति! (मिच्छादसणरत्ता) मिथ्या-दर्शन मे रत रहने वाले और (सनियाणा) निदान करनेवाले (हिंसगा) हिंसा करने वाले (इय) इस तरह (जे) जो (जीवा) जीव (मरति) मरते है। (तेसिं) उनको (पुण) फिर (वोहि) सम्यक्त्व धर्म का मिलना (हु) निश्चय (दुल्लहा) दुर्लभ है।

भावार्थ —हे आर्य! कुदेव कुगुरु कुधर्म मे रत रहने वाले और निदान सहित धर्मक्रिया करने वाले, एव हिंसा करने वाले जो जीव हैं, वे इस प्रकार अपनी प्रवृत्ति करके मरते है, तो फिर उन्हें अगले भव मे सम्यक्त्व वोध का मिलना महान कठिन है।

मूल.— सम्मद्दसणरत्ता अनियाणा, सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरति जीवा, सुलहा तेसिं भवे वोहि ॥१०॥

छायाः—सम्यग्दर्शनरक्ता अनिदाना शुक्ललेश्यामवगाढाः।
इति ये म्रियन्ते जीवा, सुलभा तेषा भवति वोधि. ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (सम्मद्दसणरत्ता) सम्यक्त्वदर्शन मे रत रहने वाले (अनियाणा) निदान नही करनेवाले एव (सुक्कलेसमोगाढा) शुक्ललेश्या से समन्वित हृदय वाले (इय) इस तरह (जे) जो (जीवा) जीव (मरति) मरते है (तेसिं) उन्हे (वोहि) सम्यक्त्व (सुलहा) सुलभता से (भवे) प्राप्त हो सकता है।

भावार्थ —हे गौतम! जो शुद्ध देव, गुरु और धर्म रूप दर्शन मे श्रद्धा पूर्वक सदैव रत रहता हो। निदानरहित तप, धर्मक्रिया करता हो, और शुद्ध

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(सातवां अध्याय)

धर्म-निरूपण

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूल:—महव्वए पच अणुव्वए य,
तहेव पचासवसवरे य ।
विरतिं इह स्सामणियमि पन्ने,
लवावसक्की समणेत्तिबेमि ॥१॥

छाया:—महाव्रतानि पञ्चाणुव्रतानि च,
तथैव पञ्चास्रवान् सवरच ।
विरतिमिह श्रामण्ये प्राज्ञ·
लवापशाङ्की: श्रमण इति ब्रवीमि ॥१॥

अन्वयार्थ—हे मनुजो ! (इह) इस जिन शासन मे (स्सामणियमि) चारित्र पालन करने मे (पन्ने) बुद्धिमान् और (लवावसक्की) कर्म तोडने मे समर्थ ऐसे (समणे) साधु (पच) पाँच (महव्वए) महाव्रत (य) और (अणुव्वए) पाँच अणुव्रत (य) और (तहेव) वैसे ही (पचासवसवरे य) पाँच आस्रव और सवर रूपा (विरतिं) विरति को (त्तिबेमि) कहता हूं ।

भावार्थ:—हे मनुजो ! सच्चरित्र के पालन करने मे महा बुद्धिशाली और कर्मों को नष्ट करने मे समर्थ ऐसे श्रमण भगवान महावीर ने इस शासन मे साधुओ के लिए तो पांच महाव्रत अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अकिंचन को पूर्ण रूप से पालने की आज्ञा दी है, और गृहस्थो के लिये

कम से कम पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत यह बारह प्रकार के व्रत को धारण करना आवश्यकीय बताया है। वे इस प्रकार हैं—थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं—हिलते-फिरते त्रस जीवों को बिना अपराध के देखभाल कर द्वेष वश मारने की नीयत से हिंसा न करना। मुसावायाओ वेरमणं—जिस भाषा से अनर्थ पैदा होता हो और राज एवं पंचायत में अनादर हो, ऐसी लोक विरुद्ध असत्य भाषा को तो कम से कम नहीं बोलना। थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमण—गुप्त रीति से किसी के घर में घुस कर, गाँठ खोल कर, ताले में कुञ्जी लगा कर, लुटेरे की तरह या और भी किसी तरह की जिससे व्यवहार मार्ग में भी लज्जा हो, ऐसी चोरी तो कम से कम नहीं करना। सदारसंतोसे[1] —कुल के अग्रसरो की साक्षी से जिसके साथ विवाह किया है उस स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियो को माता एव बहिन और बेटी की निगाह से देखना और अपनी स्त्री के साथ भी कम से कम अष्टमी, चतुर्दशी, एकादशी, द्वितीया, पचमी, अमावस्या, पूर्णिमा के दिन का सभोग त्याग करना। इच्छापरिमाणे—खेत, कूए, सोना, चाँदी, धान्य, पशु आदि सम्पत्ति का कम से कम जितनी इच्छा हो उतनी ही का परिमाण करना ताकि परिमाण से अधिक सम्पत्ति प्राप्त करने की लालसा रुक जाय। यह भी गृहस्थ का एक धर्म है। गृहस्थ को अपने छठे धर्म के अनुसार, दिसिव्वय—चारों दिशा और ऊँची-नीची दिशाओ मे गमन करने का नियम कर लेना। सातवें मे उपभोग-परिभोग-परिमाण—खाने-पीने की वस्तुओ की और पहनने की वस्तुओं की सीमा बाँधना। ऐसा करने से कभी वह तृष्णा के साथ भी विजय प्राप्त कर लेता है। फिर उससे मुक्ति भी निकट आ जाती है। इसका विशेष विवरण यो है—

मूल—इगाली, वण, साडी, भाडी फोडी सुवज्जए कम्म।
वाणिज्ज चेव य दत-लक्खरसकेसविसविसय ॥२॥

---

१ गृहस्थ-धर्म पालन करने वाली महिलाओ को भी अपने कुल के अग्रसरो की साक्षी से विवाहित पुरुष के सिवाय समस्त पुरुष वर्ग को पिता, भ्राता और पुत्र के समान समझना चाहिए। और स्वपति के साथ भी कम से कम पर्व तिथियो पर कुशील सेवन का परित्याग करना चाहिए।

छाया:—अङ्गार-वन-शाटी, भाटि· स्फोटि. सुवर्जयेत् कर्म ।
वाणिज्य चैव च दन्त-लाक्षा-रस-केश-विष-विषयम् ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (इगाली) कोयले पडवाने का (वण) वन कटवाने का (साडी) गाडियाँ बनाकर बेचने का (भाडी) गाडी, घोडे, बैल, आदि से भाडा कमाने का (फोडी) खानें आदि खुदवाने का (कम्म) कर्म गृहस्थ को (सुवज्जए) परित्याग कर देना चाहिए। (य) और (दत) हाथी दात का (लक्ख) लाख का (रस) मधु आदि का (केस) मुर्गों, कबूतरो आदि के बेचने का (विसविसय) जहर और शस्त्रो आदि का (वाणिज्ज) व्यापार (चेव) यह भी निश्चय रूप से गृहस्थो को छोड देना चाहिए।

भावार्थ—हे आर्य ! गृहस्थधर्म पालन करने वालो को कोयले तैयार करवा कर बेचने का या कुम्हार, लुहार, भडभूंजे आदि के काम जिनमे महान अग्नि का आरभ होता है, नही करना चाहिए। वन, झाड़ी कटवाने का ठेका वगैरह लेने का, इक्के, गाडी, वगैरह तैयार करवा कर बेचने का, बैल, घोडे, ऊँट आदि को भाडे से फिराने का, या इक्के, गाडी, वगैरह भाडे फिरा करके आजीविका कमाने का और खानें आदि खुदवाने का कर्म आजीवन के लिए छोड देना चाहिए। और व्यापार सबध मे हाथी-दांत, चमडे आदि का, लाख का, मदिरा, शहद आदि का, कबूतर, बटेर, तोते, कुक्कुट, बकरे आदि का, सखिया, वच्छनाग आदि जिनके खाने से मनुष्य मर जाते है ऐसे जहरीले पदार्थों का, या तलवार, बन्दूक, बरछी आदि का व्यापार कम से कम गृहस्थ-धर्म पालन करनेवाले को कभी भूल कर भी नही करना चाहिए।

मूल.—एव खु जतपिल्लणकम्म, निल्लछण च दवदाण ।
सरदहतलायसोस, असइपोस च वज्जिज्जा ॥३॥

छाया·—एव खलु यन्त्रपीडनकर्म, निर्लाञ्छनं दवदानम् ।
सरद्रहतडागशोष, असती पोषम् च वर्जयेत् ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एवं) इस प्रकार (खु) निश्चय करके (जतपिल्लण) यत्रो के द्वारा प्राणियो को बाधा पहुंचे ऐसा (च) और (निल्लछण) अण्डकोष फुडवाने का (दवदाण) दावानल लगाने का (सरदह-

तलायसोस) सर, द्रह, तालाव की पाल फोडने का (च) और (असईपोस) दासी वेश्यादि के पोषण का (कम्म) कर्म (वज्जिज्जा) छोड देना चाहिए।

भावार्थ—हे गौतम! ऐसे कई प्रकार के यन्त्र है कि जिनके द्वारा पचेन्द्रियो के अवयवो का छेदन-भेदन होता हो, अथवा यन्त्रादिको के बनाने से प्राणियो को पीडा हो, आदि ऐसे यन्त्र सम्बन्धी-धधो का गृहस्थ-धर्म पालन करने वालों को परित्याग कर देना चाहिए और बैल आदि को नपुसक अर्थात् खस्सी करने का, दावानल सुलगाने का, विना खोदी हुई जगह पर पानी भरा हुआ हो, ऐसा सर, एव खूव जहाँ पानी भरा हुआ हो ऐसा द्रह तथा तालाव, कुआ, वावडी आदि जिसके द्वारा वहुत से जीव पानी पीकर अपनी तृषा बुझाते हैं। उनकी पाल फोड कर पानी निकाल देने का, दासी-वेश्या आदि को व्यभिचार के निमित्त या चूहो को मारने के लिये विल्ली आदि का पोषण करना, आदि-आदि कर्म गृहस्थी को जीवन भर के लिए छोड देना ही सच्चा गृहस्थ-धर्म है। गृहस्थ का आठवां धर्म अणत्थदंडवेरमण—हिंसक विचारो, अनर्थकारी वातो आदि का परित्याग करना है। गृहस्थ का नौवां धर्म यह है, कि सामाइय—दिन भर मे कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट) तो ऐसा बितावें कि ससार से बिलकुल ही विरक्त हो कर उस समय वह आत्मिक गुणों का चिन्तवन कर सके। गृहस्थ का दशवां धर्म है वेसावागासिय—जिन पदार्थो की छूट[1] रक्खी है, उनका फिर भी त्याग करना और निर्धारित समय के लिए सासारिक झझटो से पृथक् रहना। ग्यारहवां धर्म यह है कि पोसहोववासे—कम से कम महीने भर में प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को पौषध करे[2] अर्थात् इन दिनो मे वे सम्पूर्ण सासारिक झझटो को छोड कर केवल आध्यात्मिक विचारो का मनन किया करें। और वारहवां गृहस्थ का धर्म यह है कि अतिहिसयअस्सविभागे—अपने घर आये हुए अतिथि का सत्कार कर उन्हें भोजन वे देते रहे। इस प्रकार गृहस्थ को अपने गृहस्थ-धर्म का पालन करते रहना चाहिये।

---

[1] आगार

[2] The eleventh vow of a layman in which he has to abandon all sinful activities for a day and has to remain in a Religious place fasting

यदि इस प्रकार गृहस्थ का धर्म पालन करते हुए कोई उत्तीर्ण हो जाय और वह फिर आगे बढना चाहे तो इस प्रकार प्रतिमा धारण कर गृहस्थ जीवन को सुशोभित करे।

मूल:—दसणवयसामाइयपोसहपडिमा य बभ अचित्ते ।
आरभपेसउदिट्ठ वज्जए समणभूए य ॥४॥

छाया:—दर्शनव्रतसामायिकपौषधप्रतिमा च ब्रह्म अचित्तम् ।
आरभप्रेषणोद्दिष्टवर्जक, श्रमणभूतश्च ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (दसणवयसामाइय) दर्शन, व्रत, सामायिक, पडिमा (य) और (पोसह) पौषध (य) और (पडिमा) पाँचवी मे पाँच बातो का परित्याग वह करे (बभ) ब्रह्मचर्य पाले (अचित्ते) सचित का भोजन न करे (आरभ) आरभ त्यागे (पेस) दूसरो से आरम्भ करवाने का त्याग करना, (उद्दिट्ठवज्जए) अपने लिए बनाये हुए भोजन का परित्याग करना (य) और अन्तिम पडिमा मे (समणभूए) साधु के समान वृत्ति को पालना।

भावार्थः—हे गौतम ! गृहस्थधर्म की ऊँची पायरी पर चढने की विधि इस प्रकार है—पहले अपनी श्रद्धा की ओर दृष्टिपात करके वह देख ले, कि मेरी श्रद्धा मे कोई भ्रम तो नही है। इस तरह लगातार एक महीने तक श्रद्धा के विषय मे ध्यानपूर्वक अभ्यास वह करता रहे। फिर उसके बाद दो मास तक पहले लिये हुए व्रतो को निर्मल रूप से पालने का अभ्यास वह करे। तीसरी पडिमा मे तीन मास तक यह अभ्यास करे कि किसी भी जीव पर राग-द्वेष के भावो को वह न आने दे। अर्थात् इस प्रकार अपना हृदय सामायिक मय बना ले। चौथी पडिमा मे चार महीने मे छ-छ के हिसाब से पौषध करे। पाँचवी पडिमा मे पाँच महीने तक इन पाँच बातो का अभ्यास करे—(१) पौषध मे ध्यान करे, (२) शृ गार के निमित्त स्नान न करे, (३) रात्रि भोजन न करे (४) पौषध के सिवाय और दिनो मे दिन का ब्रह्मचर्य पाले, (५) रात्रि मे ब्रह्मचर्य की मर्यादा करता रहे। छठी पडिमा मे छ महीने तक सब प्रकार से ब्रह्मचर्य के पालन करने का अभ्यास वह करे। सातवी पडिमा मे सात महीने तक सचित्त भोजन न खाने का अभ्यास करे। आठवी पडिमा मे आठ महीने तक स्वत कोई आरभ न करे। नौवी पडिमा मे नौ महीने

तो दूसरों से भी आरम्भ न करवावे। दसवीं पडिमा मे दस महीने तक अपने लिए बनाया हुआ भोजन न खावे। ग्यारहवी पडिमा मे ग्यारह महीने तक साधु के समान क्रियाओं का पालन वह करता रहे। शक्ति हो तो बालों का लोच भी करे, नही शक्ति हो तो हजामत करवाले, खुली दण्डी का रजोहरण बगल मे रखे। मुंह पर मुंह-पत्ती बँधी हुई रखे और ४२ दोषों को टाल कर अपने ज्ञाति वालों के यहाँ से भोजन लावे। इस प्रकार उत्तरोत्तर गुण बढ़ाते हुए प्रथम पडिमा मे एकान्तर तप करे और दूसरी पडिमा मे दो महीने तक बेले-बेले पारणा करे। इसी तरह ग्यारहवी पडिमा मे ग्यारह महीने तक ग्यारह-ग्यारह उपवास करता रहे। अर्थात् एक दिन भोजन करे फिर ग्यारह उपवास करे। फिर एक दिन भोजन करे। यों लगातार ग्यारह महीने तक ग्यारह का पारणा करे।

इस प्रकार गृहस्थ-धर्म पालते-पालते अपने जीवन का अंतिम समय यदि आ जाय तो अपच्छिमा मरणंतिआ संलेहणा झूसणाराहणा—सब सांसारिक व्यवहारों का सब प्रकार से आजन्म के लिए परित्याग करके संथारा¹ (समाधि) धारण करने, और अपने त्याग धर्म मे किसी भी प्रकार की दोषापत्ति भूल से यदि हो गयी हो, तो आलोचक के पास उन बातों को प्रकाशित कर दे। जो वे प्रायश्चित्त उसके लिए दें उसे स्वीकार कर अपनी आत्मा को निर्मल बनावे फिर प्राणीमात्र पर यों मैत्री भाव रखे।

मूल —खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ ण केणई ॥५॥

छाया —क्षमयामि सर्वान् जीवान्, सर्वे जीवा क्षमन्तु मे।
मैत्री मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनापि ॥५॥

अन्वयार्थ —(सव्वे) सब (जीवा) जीवों को (खामेमि) खमाता हूँ। (मे) मुझे (सव्वे) सब (जीवा) जीव (खमंतु) क्षमा करो (सव्वभूएसु) प्राणी मात्र से (मे) मेरी (मित्ती) मैत्री भावना है (केणई) किसी के भी साथ (मज्झ) मेरा (वेरं) वैर (न) नही है।

1 Act of meditation that a particular person may do in undisturbed condition of mind

भावार्थः—हे गौतम ! उत्तम पुरुष जो होता है वह सदैव वसुधैव कुटुम्ब-कम् जैसी भावना रखता हुआ वाचा के द्वारा भी यो बोलेगा कि सब ही जीव क्या छोटे और बडे उनसे क्षमा याचता हूँ। अत. वे मेरे अपराध को क्षमा करे। चाहे जिस जाति व कुल का हो उन सबों मे मेरी मैत्री भावना है। भले ही वे मेरे अपराधी क्यो न हो, तदपि उन जीवो के साथ मेरा किसी भी प्रकार वैर-विरोध नही है। बस, उसके लिए फिर मुक्ति कुछ भी दूर नही है।

मूलः—अगारिसामाइअंगाइ सड्ढी काएण फासए।
पोसहं दुहओ पक्ख, एगराइ न हावए ॥६॥

छायाः—आगारीसामायिकागानि, श्रद्धी कायेन स्पृशति।
पौषधमुभयो पक्षयो., एकरात्र न हाययेत् ॥६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (सड्ढी) श्रद्धावान् (अगारि) गृहस्थी (सामाइ-अगाइ) सामायिक के अगो को (काएण) काया के द्वारा (फासए) स्पर्श करे, और (दुहओ) दोनो (पक्ख) पक्ष को (पोसह) पौषध करने मे (एगराइ) एक रात्रि की भी (न) नही (हावए) न्यूनता करे।

भावार्थः—हे आर्य ! जो गृहस्थ है, और अपना गृहस्थ-धर्म पालन करता है, वह श्रद्धावान् गृहस्थ सामायिक भाव के अगो की अर्थात् समता शान्ति आदि गुणो की मन, वचन, काया के द्वारा अभ्यास के साथ अभिवृद्धि करता रहे। और कृष्ण शुक्ल दोनो पक्षो मे कम से कम छ पौषध करने मे तो न्यूनता एक रात्रि की भी कभी न करे।

मूल—एवं सिक्खासमावण्णे, गिहिवास वि सुव्वए।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥७॥

छाया—एव शिक्षासमापन्न', गृहिवासेऽपि सुव्रतः।
मुच्यते छवि पर्वणो, गच्छेद् यक्षसलोकताम् ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एव) इस प्रकार (सिक्खासमावण्णे) शिक्षा से युक्त गृहस्थ (गिहिवासे वि) गृहवास मे भी (सुव्वए) अच्छे व्रत वाला होता

है। और वह अन्तिम समय में (छविपव्वाओ) चमड़ी और हड्डी वाले शरीर को (मुच्चई) छोड़ता है। और (जक्खसलोगय) यक्ष देवता के सदृश स्वर्गलोक को (गच्छे) जाता है।

भावार्थ—हे गौतम! इस प्रकार जो गृहस्थ अपने सदाचार रूप गृहस्थ-धर्म का पालन करता है, वह गृहस्थाश्रम में भी अच्छे व्रतवाला सगमी होता है। इस प्रकार गृहस्थधर्म के पालते हुए यदि उसका अन्तिम समय भी आ जाय तो भी हड्डी, चमड़ी और मास निर्मित इस औदारिक[1] शरीर को छोड़कर यक्ष देवताओं के सदृश देवलोक को प्राप्त होता है।

मूल—दीहाउया इड्ढिमता, समिद्धा कामरूविणो।
अहुणोववन्नसकासा, भुज्जो अच्चिमालिप्पभा ॥८॥

छाया—दीर्घायुष ऋद्धिमन्तः, समृद्धा कामरूपिण।
अधुनोत्पन्नसकाशा, भूयोऽर्चिमालिप्रभा. ॥८॥

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति! जो गृहस्थ-धर्म पालन कर स्वर्ग में जाते हैं वे वहाँ (दीहाउया) दीर्घायु (इड्ढिमता) ऋद्धिमान् (समिद्धा) समृद्धिशाली (कामरूविणो) इच्छानुसार रूप बनाने वाले (अहुणोववन्नसकासा) मानो तत्काल ही जन्म लिया हो जैसे (भुज्जोअच्चिमालिप्पभा) और अनेकों सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान होते हैं।

भावार्थ.—हे गौतम! जो गृहस्थ गृहस्थ-धर्म पालते हुए नीति के साथ अपना जीवन बिताते हुए स्वर्ग को प्राप्त होते हैं, वे वहाँ दीर्घायु, ऋद्धिमान, समृद्धिशाली, इच्छानुकूल रूप बनाने की शक्तियुक्त तत्काल के जन्मे हुए जैसे, और अनेकों सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान होते हैं।

मूल—ताणि ठाणाणि गच्छति, सिक्खिता सजम तव।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे सतिपरिनिव्वुडा ॥९॥

---

1 External Physical body having flesh, blood and bo

छायाः—तानि स्थानानि गच्छन्ति, शिक्षित्वा सयमं तप.।
भिक्षुका वा गृहस्था वा, ये सन्ति परिनिवृता ॥९॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (सतिपरिनिव्वुडा) शान्ति के द्वारा चहुँ ओर से सताप रहित (जे) जो (भिक्खाए) भिक्षु (वा) अथवा (गिहत्थे) गृहस्थ हो (सजम) सयम (तव) तप को (सिक्खित्ता) अभ्यास करके (ताणि) उन दिव्य (ठाणाणि) स्थानो को (गच्छति) जाते है।

भावार्थ—हे गौतम ! क्षमा के द्वारा सकल संतापों से रहित होने पर साधु हो या गृहस्थ चाहे जो हो, जाति-पाँति का यहाँ कोई गौरव नही है। सयमी जीवन वाला और तपस्वी हो वही दिव्य स्वर्ग मे जाता है।

मूलः—बहिया उड्ढमादाय, नाकक्खे कयाइ वि।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इम देह समुद्धरे ॥१०॥

छायाः—वाह्यमूर्ध्वमादाय, नावकाक्षेत् कदापि च।
पूर्वकर्मक्षयार्थं, इम देह समुद्धरेत् ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (बहिया) ससार से बाहर (उड्ढ) ऊर्ध्व, ऐसे मोक्ष की अभिलाषा (आदाय) ग्रहण कर (कयाइ वि) कभी भी (नाकक्खे) विषयादि सेवन की इच्छा न करे, और (पुव्वकम्मक्खयट्ठाए) पूर्व सचित कर्मों को नष्ट करने के लिए (इम) इस (देह) मानव शरीर को (समुद्धरे) निर्दोष वृत्ति से धारण करके रक्खे।

भावार्थ—हे गौतम ! ससार से परे जो मोक्ष है, उसको लक्ष्य मे रख कर के कभी भी कोई विषयादि सेवन की इच्छा न करे। और पूर्व के अनेक भवो मे किये हुए कर्मों को नष्ट करने के लिए इस शरीर का, निर्दोष आहारादि से पालन-पोषण करता हुआ अपने मानव-जन्म को सफल बनावे।

मूलः—दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छति सोग्गइ ॥११॥

छाया·—दुर्लभस्तु मुधादायी, मुधाजीव्यपि दुर्लभः।
मुधादायी मुधाजीवी, द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ॥११॥

अन्वयार्थ--हे इन्द्रभूति ! (मुहादाई) स्वार्थ-रहित भावना से देने वाला व्यक्ति (दुल्लहा) दुर्लभ है (उ) और (मुहाजीवी) स्वार्थ-रहित भावना से दिये हुए भोजन के द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले (वि) भी (दुल्लहा) दुर्लभ है, (मुहादाई) ऐसा देने वाला और (मुहाजीवी) ऐसा लेने वाला (दो वि) दोनों ही (सोग्गइ) सुगति को (गच्छन्ति) जाते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! नाना प्रकार के ऐहिक सुख प्राप्त होने की स्वार्थ रहित भावना से जो दान देता है, ऐसा व्यक्ति मिलना दुर्लभ ही है। और देने वाले का किसी भी प्रकार सम्बन्ध व कार्य न करके उससे निःस्वार्थ ही भोजन ग्रहण कर अपना जीवन निर्वाह करते हों, ऐसे महान् पुरुष भी कम हैं। अतएव बिना स्वार्थ से देने वाला मुहादाई[1] और निःस्पृह भाव से लेने वाला मुहाजीवी[2] दोनों ही सुगति में जाते हैं।

मूल—सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥१२॥

छाया—सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्यः, गृहस्था संयमोत्तराः ।
अगारस्थेभ्यः सर्वेभ्यः, साधवः संयमोत्तराः ॥१२॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (एगेहिं) कितनेक (भिक्खूहिं) शिथिल साधुओं से (गारत्था) गृहस्थ (संजमुत्तरा) संयमी जीवन बिताने में अच्छे (संति) होते हैं। (य) और (सव्वेहिं) देशविरति वाले सब (गारत्थेहिं) गृहस्थों से (संजमुत्तरा) निर्दोष संयम पालने वाले श्रेष्ठ हैं।

भावार्थ—हे आर्य ! कितने ही शिथिलाचारी साधुओं से गृहस्थ धर्म पालने वाले गृहस्थ भी अच्छे होते हैं, जो अपने नियमों को निर्दोष रूप से पालन करते रहते हैं। और निर्दोष संयम पालने वाले जो साधु हैं, वे देशविरति वाले सब गृहस्थों से बढ़कर हैं।

1 Giver without getting anything in return.
2 Maintaining oneself without giving anything in exchange.

मूल.—चीराजिणं नगिणिण, जडी सघाडि मुडिण ।
एयाणि वि न ताइति, दुस्सील परियागय ॥१३॥

छाया:—चीराजिन नग्नत्व जटित्व सघाटित्वमुण्डित्वम् ।
एतान्यपि न त्रायन्ते, दु शील पर्यायगतम् ॥१३॥

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति ! (दुस्सील) दुराचार का धारक (चीराजिण) केवल वल्कल और चर्म के वस्त्र वाला (नगिणिण) नग्न अवस्थापन्न (जडी) जटाधारी (सघाडि) वस्त्र के टुकडे साँध साँध कर पहनने वाला (मुडिण) केशो का मुण्डन या लोच करने वाला (एयाणि) ये सब (परियागय) दीक्षा धारण करके भी (न) नही (ताइति) रक्षित होता है ।

भावार्थ:—हे गौतम ! सयमी जीवन विताये विना केवल दरख्तो की छाल के वस्त्र पहनने से या किसी किस्म के चर्म के वस्त्र पहनने से, अथवा नग्न रहने से, अथवा जटाधारण करने से, अथवा फटे-टूटे कपडो के टुकडो को सीकर पहनने से, और केशो का मुण्डन व लोचन करने से कभी मुक्ति नही होती है । इस प्रकार भले ही वह साधु कहलाता हो, पर वह दुराचारी न तो अपना स्वत का रक्षण कर पाता है, और न औरो ही का । अतः स्व-पर-कल्याण के लिए शील-सम्यक् चारित्र का पालन करना ही श्रेयस्कर है ।

मूल—अत्थगयमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्व, मणसा वि न पत्थए ॥१४॥

छाया:—अस्तगत आदित्ये, पुरस्ताच्यानुद्गते ।
आहारमादिक सर्वं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥१४॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (आइच्चे) सूर्य (अत्थगयमि) अस्त होने पर (य) और (पुरत्था) पूर्व दिशा मे (अणुग्गए) उदय नही हो वहाँ तक (आहारमाइय) आहार आदि (सव्व) सब को (मणसा) मन से (वि) भी (न)न (पत्थए) चाहे ।

भावार्थः—हे गौतम ! सूर्य अस्त होने के पश्चात् जब तक फिर पूर्व दिशा मे सूर्य उदय न हो जावे उसके बीच के समय मे गृहस्थ सब तरह के पेय-अपेय पदार्थों को खाने-पीने की मन से भी कभी इच्छा न करे ।

मूल—जायरूव जहामट्ठं, निद्धतमलपावग ।
रागदोसभयातीतं, त वयं बूम माहण ॥१५॥

छायाः—जातरूप यथा मृष्टं निध्मातमलपापकम् ।
रागद्वेष भयातीत, त वयम् ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (मट्ठ) कसौटी पर कसा हुआ और (निद्धतमलपावग) अग्नि से नष्ट किया है मल को जिस के ऐसा (जायरूव) सुवर्ण गुण युक्त होता है । वैसे ही जो (रागदोसभयातीत) राग, द्वेष और भय से रहित हो (त) उसको (वय) हम (माहण) ब्राह्मण (बूम) कहते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार कसौटी पर कसा हुआ एव अग्नि के ताप से दूर हो गया है मैल जिसका ऐसा सुवर्ण ही वास्तव मे सुवर्ण होता है । इसी तरह निर्मोह और शान्ति रूप कसौटी पर कसा हुआ तथा ज्ञान रूप अग्नि से जिसका राग द्वेष रूप मैल दूर हो गया हो उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं ।

मूल—तवस्सियं किस दत, अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाण, त वय बूम माहणं ॥१६॥

छाया—तपस्विनं कृश दान्त, अपचितमास शोणितम् ।
सुव्रत प्राप्त निर्वाण, त वयम् ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! जो (तवस्सिय) तपस्या करने वाला हो, जिससे वह (किस) दुर्बल हो रहा हो (दत) इन्द्रियो को दमन करने वाला हो, जिससे (अवचियमससोणिअ) सूख गया है मांस और खून जिसका, (सुव्वय) व्रत नियम सुन्दर पालता हो (पत्तनिव्वाण) जो तृष्णारहित हो (त) उसको (वय) हम (माहण) ब्राह्मण (बूम) कहते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! तप करने से जिसका शरीर दुर्बल हो गया हो, इन्द्रियो का दमन करने से लोहू, मांस जिसका सूख गया हो, व्रत नियमो का सुन्दर रूप से पालन करने के कारण जिसका स्वभाव शान्त हो गया हो, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं ।

मूलः—जहा पोम जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एव अलित्तं कामेहिं, त वय बूम माहण ॥१७॥

छायाः—यथा पद्म जले जातम्, नोपलिप्यते वारिणा ।
एवमलिप्त कामैः, त वयम् ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥१७॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (पोम) कमल (जले) जल मे (जाय) उत्पन्न होता है तो भी (वारिणा) जल से (नोवलिप्पइ) वह लिप्त नही होता है (एव) ऐसे ही जो (कामेहिं) काम भोगो से (अलित्त) अलिप्त है (त) उसको (वय) हम (माहण) ब्राह्मण (बूम) कहते हैं ।

भावार्थ—हे गौतम ! जैसे कमल जल मे उत्पन्न होता है, पर जल से सदा अलिप्त रहता है, इसी तरह कामभोगो से उत्पन्न होने पर भी विषय-वासना सेवन से जो सदा दूर रहता है, वह किसी भी जाति व कौम का क्यो न हो, हम उसी को ब्राह्मण कहते हैं ।

मूल—न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बभणो ।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥१८॥

छायाः—नाऽपि मुण्डितेन श्रमणा, न ओंकारेण ब्राह्मणः ।
न मुनिरण्यवासेन, कुशचीरेण न तापसा ॥१८॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (मुंडिएण) मुडन व लोचन करने से (समणो) श्रमण (न) नही होता है । और (ओकारेण) ओकार शब्द मात्र जप लेने से (बभणो) कोई ब्राह्मण (वि) भी (न) नही हो सकता है । इसी तरह (रण्णवासेण) अटवी मे रहने से (मुणी) मुनि (न) नही होता है । (कुसचीरेण) दर्भ के वस्त्र पहनने से (तावसो) तपस्वी (न) नही होता है ।

भावार्थ —हे गौतम ! केवल सिर मुडाने से या लुचन मात्र करने से ही कोई साधु नहीं बन जाता है। और न ओंकार शब्द मात्र के रटने से ही कोई ब्राह्मण हो सकता है। इसी तरह केवल सघन अटवी मे निवास कर लेने से ही कोई मुनि नहीं हो सकता है। और न केवल घास विशेष अर्थात् दर्भ का कपडा पहन लेने से कोई तपस्वी बन सकता है।

मूल —समयाए समणो होइ, बभचेरेण बभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो ॥१९॥

छाया:—समतया श्रमणो भवति, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः।
ज्ञानेन च मुनिर्भवति, तपसा भवति तापस· ॥१९॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (समयाए) शत्रु और मित्र पर समभाव रखने से (समणो) श्रमण-साधु (होइ) होता है। (बभचेरेण) ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने से (बभणो) ब्राह्मण होता है (य) और इसी तरह (नाणेण) ज्ञान सम्पादन करने से (मुणी) मुनि (होइ) होता है, एव (तवेण) तप करने से (तावसो) तपस्वी (होइ) होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! सर्व प्राणी मात्र, फिर चाहे वे शत्रु जैसा बर्त्ताव करते हो या मित्र जैसा, ब्राह्मण, श्व पाक, चाहे जो व्यक्ति हो, उन सभी को समदृष्टि से जो देखता हो, वही साधु है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला किसी भी कौम का हो, वह ब्राह्मण ही है, इसी तरह सम्यक् ज्ञान सम्पादन कर के उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाला ही मुनि है। ऐहिक सुखो की वाछा रहित बिना किसी को कष्ट दिये जो तप करता है, वही तपस्वी है।

मूल —कम्मुणा बभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥२०॥

छाया·—कर्मणा ब्राह्मणो भवति, कर्मणा भवति क्षत्रिय ।
वैश्य: कर्मणा भवति, शूद्रो भवति कर्मणा ॥२०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (कम्मुणा) क्षमादि अनुष्ठान करने से (बभणो) ब्राह्मण (होइ) होता है, और (कम्मुणा) पर-पीडाहरन व रक्षादि कार्य करने से (खत्तिओ) क्षत्री (होइ) होता है। इसी तरह (कम्मुणा) नीति पूर्वक व्यवहार कर्म करने से (वइसो) वैश्य (होइ) होता है। और (कम्मुणा) दूसरो को कष्ट पहुँचाने रूप कार्य जो करे वह (सुद्दो) शूद्र (हवइ) होता है।

भावार्थ·—हे गौतम ! चाहे जिस जाति व कुल का मनुष्य क्यो न हो, जो क्षमा, सत्य, शील, तप आदि सदनुष्ठान रूप कर्मों का कर्त्ता होता है, वही ब्राह्मण है। केवल छापा तिलक कर लेने से ब्राह्मण नही हो सकता है। और जो भय, दु ख आदि से मनुष्यो को मुक्त करने का कर्म करता है, वही क्षत्रिय अर्थात् राजपुत्र है। अन्याय पूर्वक राज करने से तथा शिकार खेलने से कोई भी व्यक्ति आज तक क्षत्रिय नहीं बना। इसी तरह नीतिपूर्वक जो व्यापार करने का कर्म करता है वही वैश्य है। नापने, तौलने, लेन, देन आदि सभी मे अनीतिपूर्वक व्यवहार कर लेने मात्र से कोई वैश्य नही हो सकता है। और जो दूसरो को सताप पहुँचाने वाले ही कर्मों को करता रहता है वही शूद्र है।

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

ॐ
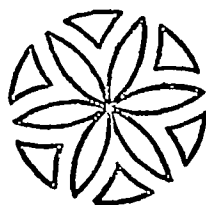
निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(आठवां अध्याय)

ब्रह्मचर्य निरूपण

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूल—आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा ।
सथवो चेव नारीण, तेसिं इदियदरिसणं ॥१॥

कूइअ रुइअ गीअ, हासभुत्तासिआणि अ ।
पणीअ भत्तपाण च, अइमाय पाणभोअणं ॥२॥

गत्तभूसणमिट्ठ च, कामभोगा य दुज्जया ।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विस तालउड जहा ॥३॥

छाया:—आलय स्त्रीजनाकीर्णः, स्त्रीकथा च मनोरमा ।
सस्तवश्चैव नारीणाम्, तासामिन्द्रियदर्शनम् ॥१॥
कूजित रुदित गीत, हास्यभुक्तासितानि च ।
प्रणीत भक्तपान च, अतिमात्र पानभोजनम् ॥२॥
गात्र भूषणमिष्ट च, कामभोगाश्च दुर्जया ।
नरस्यात्मगवेषिण, विष तालपुट यथा ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (थीजणाइण्णो) स्त्री जन सहित (आलओ) मकान मे रहना (य) और (मणोरमा) मन-रमणीय (थीकहा) स्त्री-कथा कहना (चेव) और (नारीण) स्त्रियो के (सथवो) सस्तव अर्थात् एक आसन पर बैठना (चेअ) और (तेसि) स्त्रियों का (इदियदरिसण) अङ्गोपाग देखना, ये ब्रह्म-

चारियो के लिए निषिद्ध है। (अ) और (कूइअ) कूंजित (रुइअ) रुदित (गीअ) गीत (हास) हास्य वगैरह (मुत्तासिआणि) स्त्रियो के साथ पूर्व मे जो काम-चेष्टा की है, उसका स्मरण (च) और नित्य (पणीअ) स्निग्ध (भत्तपाण) आहार पानी एव (अइमाय) परिमाण से अधिक (पाणभोअण) आहार पानी का खाना पीना (च) और (इट्ठ) प्रियकारी (गत्तभूसण) शरीर शुश्रूषा विभूषा करना ये सब ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध है। क्योकि (दुज्जया) जीतने मे कठिन हैं ऐसे ये (कामभोगा) कामभोग (अत्तगवेसिस्स) आत्मगवेषी ब्रह्मचारी (नरस्स) मनुष्य के (तालउड) तालपुट (विस) जहर के (जहा) समान है।

भावार्थः—हे गौतम ! स्त्री व नपुसक (हीजडे) जहाँ रहते हो वहाँ ब्रह्मचारी को नही रहना चाहिए। स्त्रियो की कथा का कहना, स्त्रियो के आसन पर बैठना, उनके अगोपागो को देखना, गीत, प्रेच, टाटी के अन्तर पर स्त्री पुरुष सोते हुए हो वहाँ ब्रह्मचारी को नही सोना चाहिए। और जो पूर्व मे स्त्रियो के साथ कामचेष्टा की है उसका स्मरण करना, नित्यप्रति स्निग्ध भोजन करना, परिमाण से अधिक भोजन करना एव शरीर की शुश्रूपा-विभूपा करना ये सब ब्रह्मचारियो के लिए निषिद्ध है। क्योकि ये दुर्जयी कामभोग ब्रह्मचारी के लिए तालपुट जहर के समान होते हैं।

मूल—जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्च कुललओ भयं।
एव खु बभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥४॥

छाया—यथा कुक्कुटपोतस्य, नित्य कुललतो भयम्।
एव खलु ब्रह्मचारिण', स्त्रीविग्रहतो भयम् ॥४॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (कुक्कुडपोअस्स) मुर्गी के बच्चे को (निच्च) हमेशा (कुललओ) बिल्ली से (भय) भय रहता है। (एव) इसी प्रकार (खु) निश्चय करके (बभयारिस्स) ब्रह्मचारी को (इत्थीविग्गहओ) स्त्री शरीर मे (भय) भय बना रहता है।

भावार्थ—हे गौतम ! ब्रह्मचारियो के लिए स्त्रियो की विषयजनित वार्तालाप तथा स्त्रियो का ससर्ग करना आदि जो निषेध किया है, वह इसलिए है कि जैसे मुर्गी के बच्चे को सदैव बिल्ली से प्राणवध का भय रहता है, अतः

अपनी प्राण रक्षा के लिए वह उससे बचता रहता है। उसी तरह ब्रह्मचारियो को स्त्रियो के ससर्ग से अपने ब्रह्मचर्य के नष्ट होने का भय सदा रहता है। अत उन्हें स्त्रियो से सदा सर्वदा दूर रहना चाहिए।

मूल —जहा विरालावसहस्स मूले,
न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे,
न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥५॥

छाया —यथा विडालावसथस्य मूले, न मूपकाणा वसति प्रशस्ता।
एवमेव स्त्रीनिलयस्य मध्ये, न ब्रह्मचारिण क्षमो निवास ॥५॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति! (जहा) जैसे (विरालावसहस्स) बिलावो के रहने के स्थानो के (मूले) समीप मे (मूसगाण) चूहो का (वसही) रहना (पसत्था) अच्छा—कल्याणकर (न) नहीं है, (एमेव) इसी तरह (इत्थीनिलयस्स) स्त्रियो के निवासस्थान के (मज्झे) मध्य मे (बम्भयारिस्स) ब्रह्मचारियो का (निवासो) रहना (खमो) योग्य (न) नही है।

भावार्थः—हे आर्य! जिस प्रकार बिलावो के निवासस्थानो के समीप चूहो का रहना बिलकुल योग्य नही अर्थात् खतरनाक है। इसी तरह स्त्रियो के रहने के स्थान के समीप ब्रह्मचारियो का रहना भी उनके लिए योग्य नही है।

मूल —हत्थपायपडिछिन्नं, कन्ननासविगप्पिअ।
अवि वाससय नारिं, बभयारी विवज्जए ॥६॥

छायाः—हस्तपादप्रतिच्छिन्ना, कर्णनासाविकल्पिताम्।
वर्षशतिकामापि नारी, ब्रह्मचारी विवर्जयेत ॥६॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति! (हत्थपायपडिछिन्न) हाथ-पाँव छेदे हुए हों, (कन्ननासविगप्पिअ) कान, नासिका विकृत आकार के हो ऐसी (वाससय) सौ वर्ष वाली (अवि) भी (नारिं) स्त्री का ससर्ग (बभयारी) ब्र[illegible] (विवज्जए) छोड दे।

भावार्थ —हे गौतम ! जिसके हाथ-पैर कटे हुए हो, कान-नाक खराब आकार वाले हो, और अवस्था मे सौ वर्ष वाली हो, तो भी ऐसी स्त्री के साथ ससर्ग परिचय करना, ब्रह्मचारियो के लिए परित्याज्य है ।

मूल:—अंगपच्चंगसंठाणं,　　　चारुल्लविअपेहिअं ।
　　इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥७॥

छाया.—अङ्गप्रत्यङ्गसस्थानं, चारुल्लपितप्रेक्षितम् ।
　　स्त्रीणा तन्न निध्यायेत्, कामरागविवर्धनम् ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! ब्रह्मचारी (कामरागविवड्ढण) काम-राग आदि को बढाने वाले ऐसे (इत्थीण) स्त्रियो के (त) तत्सम्बन्धी (अगपच्चगसठाण) सिर नयन आदि आकार-प्रकार और (चारुल्लविअपेहिअ) सुन्दर बोलने का ढग एवं नयनो के कटाक्ष बाण की ओर (न) न (निज्झाए) देखे ।

भावार्थ —हे गौतम ! ब्रह्मचारियो को कामराग बढ़ाने वाले जो स्त्रियो के हाथ, पांव, आंख, नाक, मुंह आदि के आकार-प्रकार है उनकी ओर, एव स्त्रियो के सुन्दर बोलने की ढब तथा उनके नयनो के तीक्ष्ण बाणो की ओर कदापि न देखना चाहिए ।

मूल:—णो रक्खसीसु गिज्झिज्जा, गंडवच्छासुऽणेगचित्तासु ।
　　जाओ पुरिस पलोभित्ता, खेलंति जहा वा दासेहि ॥८॥

छाया:—न राक्षसीषु गृध्येत्, गण्डव-क्षस्स्वनेकचित्तासु ।
　　या. पुरुष प्रलोभप्प, क्रीडन्ति यथा दासैरिव ॥८॥

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति ! ब्रह्मचारी को (गडवच्छासु) फोडे के समान वक्षस्थल वाली (अणेगचित्तासु) चचल चित्त वाली (रक्खसीसु) राक्षसी स्त्रियो मे (णो) नही (गिज्झज्जा) गृद्ध होना चाहिए, क्योकि (जाओ) जो स्त्रियां (पुरिस) पुरुष को (पलोभित्ता) प्रलोभित करके (जहा) जैसे(दासेहि) दास की (वा) तरह (खेलति) क्रीडा कराती हैं ।

भावार्थ—हे गौतम ! ब्रह्मचारियो को फोडे के समान स्तनवाली एव चचल चित्तवाली, जो वातें तो किसी दूसरे से करे, और देखे दूसरे ही की ओर ऐसी अनेक चित्तवाली, राक्षसियो के समान स्त्रियो मे कभी आसक्त नहीं होना चाहिए। क्योकि वे स्त्रियां मनुष्यो को विषय-वासना का प्रलोभन दिखा कर अपनी अनेक आज्ञाओ का पालन कराने मे उन्हें दासो की भाँति दत्तचित्त रखती हैं।

मूल—भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे।
बाले य मदिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ॥९॥

छाया:—भोगामिषदोषविषण्ण, हितनिश्रेयससबुद्धि विपर्यस्त।
बालश्च मन्दो मूढ, बघ्यते मक्षिकेव श्लेष्मणि ॥९॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (भोगामिसदोसविसन्ने) भोग रूप मास जो आत्मा को दूषित करने वाला दोष रूप है, उसमे आसक्त होने वाले तथा (हियनिस्सेयसवुद्धि वोच्चत्थे) हितकारक जो मोक्ष है उसको प्राप्त करने की जो बुद्धि है उससे विपरीत वर्ताव करने वाले (य) और (मदिए) धर्म-क्रिया मे आलसी (मूढे) मोह मे लिप्त (बाले) ऐसे अज्ञानी जीव कर्मों मे बँध जाते है और (खेलम्मि) श्लेश्म-कफ मे (मच्छिआ) मक्खी की (व) तरह (बज्झई) फँस जाते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! विपय वासना रूप जो मास है, यही आत्मा को दूषित करने वाला दोष रूप है। इसमे आसक्त होने वाले तथा हितकारी जो मोक्ष है उसके साधन की बुद्धि से विमुख और धर्म करने मे आलसी तथा मोह मे लिप्त हो जाने वाले अज्ञानी जन अपने गाढ कर्मों मे जैसे मक्खी श्लेश्म (कफ) मे लिपट जाती है वैसे ही फँस जाते है।

मूल—सल्ल कामा विस कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जति दुग्गइ ॥१०॥

छाया—शल्य कामा विष कामा, कामा आशीविषोपमा।
कामान् प्रार्थयमाना, अकामा यान्ति दुर्गतिम् ॥१०॥

अन्वयार्थ :—हे इन्द्रभूति ! (कामा) कामभोग (सल्ल) कांटे के समान हैं, (कामा) कामभोग (विस) विष के समान है (कामा) कामभोग (आसीविसोवमा) दृष्टि-विष सर्प के समान है, (कामे) कामनाओ की (पत्थेमाणा) इच्छा करने पर (अकामा) बिना ही विषय-वासना सेवन किये यह जीव (दुग्गइ) दुर्गति को (जति) प्राप्त होता है।

भावार्थ.—हे आर्य ! यह कामभोग चुभने वाले तीक्ष्ण काटे के समान हैं, विषय-वासना का सेवन करना तो बहुत ही दूर रहा, पर उसकी इच्छा मात्र करने ही मे मनुष्यो की दुर्गति होती है।

मूल:—खणमेत्तसुक्खा बहुकालदुक्खा
पगामदुक्खा अनिगामसुक्खा ।
ससारमोक्खस्स विपक्खभूया
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥११॥

छाया.—क्षणमात्रसौख्या बहुकालदु:खा:,
प्रकामदु:खा अनिकामसौख्या: ।
ससारमोक्षस्य विपक्षभूता:,
खानिरनर्थाना तु कामभोगा: ॥११॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (कामभोगा) ये कामभोग (खणमेत्तसुक्खा) क्षण भर सुख देने वाले है, पर (बहुकालदुक्खा) बहुत काल तक के लिए दुख रूप हो जाते है। अत: ये विषयभोग (पगामदुक्खा) अत्यन्त दु:ख देने वाले और (अनिगामसुक्खा) अत्यल्प सुख के दाता हैं। (ससारमोक्खस्स) ससार से मुक्त होने वालो को ये (विपक्खभूया) विपक्षभूत अर्थात् शत्रु के समान है। और (अणत्थाण) अनर्थों की (खाणी उ) खदान के समान है।

भावार्थ —हे गौतम ! ये कामभोग केवल सेवन करते समय ही क्षणिक सुखो के देने वाले हैं और भविष्य मे वे बहुत अर्से तक दुखदायी होते हैं। इसलिए हे गौतम ! ये भोग अत्यन्त दुख के कारण है, सुख जो इनके द्वारा प्राप्त होता है वह तो अत्यल्प ही होता है। फिर ये भोग ससार से मुक्त होने वाले के लिए पूरे-पूरे शत्रु के समान होते है। और सम्पूर्ण अनर्थों को पैदा करने वाले हैं।

मूल—जहा किंपागफलाण, परिणामो न सुन्दरो ।
एव भुत्ताण भोगाण, परिणामो न सुन्दरो ॥१२॥

छाया—यथा किम्पाकफलाना, परिणामो न सुन्दर ।
एव भुक्ताना भोगाना, परिणामो न सुन्दर ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (किंपागफलाण) किंपाक नामक फलों के खाने का (परिणामो) परिणाम (सुन्दरो) अच्छा (न) नही है, (एव) इसी तरह (भुत्ताण) भोगे हुए (भोगाण) भोगो का (परिणामो) परिणाम (सुन्दरो) अच्छा (न) नही होता है ।

भावार्थः—हे आर्य ! किंपाक नाम के फल खाने मे स्वादिष्ट, सूंघने में सुगंधित और आकार-प्रकार से भी मनोहर होते हैं, तथापि खाने के बाद वे फल हलाहल जहर का काम करते हैं । इसी तरह ये भोग भी भोगते समय तो क्षणिक सुख दे देते हैं। परन्तु उसके पश्चात् ये चौरासी की चक्रफेरी मे दुखो का समुद्र रूप हो सामने आडे आ जाते हैं । उस समय इस आत्मा को बडा ही पश्चात्ताप करना पडता है ।

मूल—दुपरिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सति सुव्वया साहू, जे तरति अपर वणिया वा ॥१३॥

छाया—दु परित्याज्या इमे कामा, नसुत्यजा अधीरपुरुषै ।
अथ सन्ति सुव्रता साधव, ये तरन्त्यतर वणिके नैव ॥१३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (इमे) ये (कामा) कामभोग (दुपरिच्चया) मनुष्यो द्वारा बडी ही कठिनता से छूटने वाले होते हैं, ऐसे भोग (अधीर-पुरिसेहिं) कायर पुरुषो से तो (नो) नही (सुजहा) सुगमता से छोडे जा सकते हैं । (अह) परन्तु (सुव्वया) सुव्रत वाले (साहू) अच्छे पुरुष जो (सति) होते हैं (जे) वे (अतर) तिरने मे कठिन ऐसे भव समुद्र को भी (वणियो) वणिक की (वा) तरह (तरति) तिर जाते हैं ।

भावार्थ —हे गौतम ! इन कामभोगो को छोडने मे जब बुद्धिमान मनुष्य भी बडी कठिनाइयाँ उठाते है, तब फिर कायर पुरुष तो इन्हे सुलभता से छोड ही कैसे सकते हैं ? अत जो शूर, वीर और धीर पुरुष होते है, वे ही इस कामभोग रूपी समुद्र के परले पार पहुंच सकते है, उसी प्रकार सयम आदि व्रत नियमो की धारणा करने वाले पुरुष ही ब्रह्मचर्य रूप जहाज के द्वारा ससार रूपी समुद्र के परले पार पहुँच सकते हैं ।

मूल —उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ ससारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥१४॥

छाया:—उपलेपो भवति भोगेषु, अभोगी नोपलिप्यते ।
भोगी भ्रमति ससारे, अभोगी विप्रमुच्यते ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (भोगेसु) भोग भोगने मे कर्मों का (उवलेवो) उपलेप (होइ) होता है। और (अभोगी) अभोगी (नोवलिप्पई) कर्मों से लिप्त नही होता है । (भोगी) विषय सेवन करने वाला (ससारे) ससार मे (भमइ) भ्रमण करता है । और (अभोगी) विषय सेवन नही करने वाला (विप्पमुच्चई) कर्मों से मुक्त होता है ।

भावार्थ —हे गौतम ! विषय वासना सेवन करने से आत्मा कर्मों के बधन से बँध जाती है । और उसको त्यागने से वह अलिप्त रहती है । अत जो कामभोगो को सेवन करते हैं वे ससार चक्र मे गोता लगाते रहते है, और जो इन्हे त्याग देते हैं वे कर्मों से मुक्त होकर अटल सुखो के धाम पर जा पहुँचते हैं ।

मूल —मोक्खाभिकखिस्स वि माणवस्स,
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे ।
नेयारिस्स दुत्तरमत्थि लोए,
जहित्थिओ वालमणोहराओ ॥१५॥

छाया —मोक्षाभिकाङ्क्षिणोऽपि मानवस्य,
ससारभीरो स्थितस्य धर्मे।
नैतादृश दुस्तरमस्ति लोके,
यथा स्त्रियो बाल मनोहरा ॥१५॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (मोक्खाभिकखिस्स) मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले (ससारभीरुस्स) ससार मे जन्म-मरण करने से डरने वाले और (धम्मे) धर्म मे (ठियस्स) स्थिर है आत्मा जिनकी ऐसे (माणवस्स) मनुष्य को (वि) भी (जहा) जैसे (बालमणोहराओ) मूर्खों के मन को हरण करने वाली (इत्थिओ) स्त्रियों से दूर रहना कठिन है, तब (एयारिस) ऐसे (लोए) लोक मे (दुत्तरं) विषय रूप समुद्र को लांघ जाने के समान दूसरा कोई कार्य कठिन (न) नही (अत्थि) है।

भावार्थ —हे गौतम ! जो मोक्ष की अभिलाषा रखते हैं, और जन्म-मरणो से भयभीत होते हुए धर्म में अपने आत्मा को स्थिर किये रहते हैं, ऐसे मनुष्यो को भी मूर्खों के मनोरंजन करने वाली स्त्रियो के कटाक्षों को निष्फल करने के समान इस लोक में दूसरा कोई कठिन कार्य नही है। तात्पर्य यह है कि सयमी पुरुषो को इस विषय मे सदैव जागरूक रहना चाहिए।

मूल —एए य सगे समइक्कमित्ता,
सुहुत्तरा चेव भवति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥१६

छायाः—एताश्च सगान् समतिक्रम्य,
सुखोत्तराश्चैव भवन्ति शेषा.।
यथा महासागरमुत्तीर्य,
नदी भवेदपि गंगासमाना ॥१

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति (एए य) इस (सगे) स्त्री-प्रसग को (समइक्क-मित्ता) छोडने पर (सेसा) अवशेष धनादि का छोडना (चेव) निश्चय करके (सुहुत्तरा) सुगमता से (भवति) होता है (जहा) जैसे (महासागर) बडा समुद्र (उत्तरित्ता) तिर जाने पर (गगासमाणा) गगा के समान (नई) नदी (अवि) भी (भवे) सुख से पार की जा सकती है।

भावार्थ—हे इन्द्रभूति! जिसने स्त्री-सभोग का परित्याग कर दिया है उसको अवशेष धनादि के त्यागने मे कोई भी कठिनाई नही होती, अर्थात् शीघ्र ही वह दूसरे प्रपचो से भी अलग हो सकता है। जैसे—कि महासागर के परले पार जाने वाले के लिए गगा नदी को लाँघना कोई कठिन कार्य नही होता।

मूल—कामणुगिद्धिप्पभव खु दुक्ख,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
ज काइअ माणसिअ च किंचि,
तस्सतगं गच्छइ वीयरागो ॥१७॥

छायाः—कामानुगृद्धिप्रभव खलु दुःखं,
सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य।
यत् कायिकं मानसिकं च किञ्चित्,
तस्मान्तिक गच्छति वीतरागः ॥१७॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (सदेवगस्स) देवता सहित (सव्वस्स) सम्पूर्ण (लोगस्स) लोक के प्राणी मात्र को (कामाणुगिद्धिप्पभव) कामभोग की अभि-लाषा से उत्पन्न होने वाला (खु) ही, (दुक्ख) दुख लगा हुआ है (ज) जो (काइअ) कायिक (च) और (माणसिअ) मानसिक (किंचि) कोई भी दुख है (तस्स) उसके (अतग) अन्त को (वीयरागो) वीतराग पुरुष (गच्छइ) प्राप्त करता है।

भावार्थ—हे गौतम! भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी आदि सभी तरह के देवताओ से लगाकर सम्पूर्ण लोक के छोटे से प्राणी तक को काम-

भोगो की अभिलाषा से उत्पन्न होने वाला दुख सताता रहता है। उस कायिक और मानसिक दुख का अन्त करने वाला केवल वही मनुष्य है, जिसने काम-भोगों से सदा के लिए अपना मुंह मोड लिया है।

मूल—देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्कर जे करेंति ते ॥१८॥

छाया—देवदानवगन्धर्वाः, यक्षराक्षसकिन्नरा।
ब्रह्मचारिण नमस्यन्ति, दुष्कर यः करोति तम् ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (दुक्कर) कठिनता से आचरण मे आ सके ऐसे ब्रह्मचर्य को (जे) जो (करेंति) पालन करते हैं (ते) उस (बम्भयारिं) ब्रह्मचारी को (देवदाणवगधव्वा) देव, दानव और गधर्व (जक्खरक्खसकिन्नरा) यक्ष, राक्षस और किन्नर सभी तरह के देव (नमसति) नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—हे गौतम! इस महान् ब्रह्मचर्य व्रत का जो पालन करता है, उसको देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि सभी देव नमस्कार करते हैं। वह लोक मे पूज्य हो जाता है।

॥ इति अष्टमोऽध्याय: ॥

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(नवाँ अध्याय)

साधुधर्म-निरूपण

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूलः—सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१॥

छाया—सर्वे जीवा अपि इच्छन्ति, जीवितुं न मर्तुम् ।
तस्मात् प्राणिवध घोर, निर्ग्रन्था वर्जयन्ति तम् ॥१॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (सव्वे) सभी (जीवा) जीव (जीविउ) जीने की (इच्छति) इच्छा करते है (वि) और (मरिज्जिउ) मरने को कोई जीव (न) नही चाहता है। (तम्हा) इसलिए (निग्गथा) निर्ग्रन्थ साधु (घोर) रौद्र (पाणिवह) प्राणीवध को (वज्जयति) छोडते हैं। (ण) वाक्यालकार।

भावार्थ—हे गौतम ! सब छोटे-बडे जीव जीने की इच्छा करते है, पर कोई मरने की इच्छा नही करते है। क्योकि जीवित रहना सब को प्रिय है। इसलिए निर्ग्रन्थ साधु महान् दुख के हेतु प्राणीवध को आजीवन के लिए छोड देते है।

मूलः—मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहि गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाण, तम्हा मोसं विवज्जए ॥२॥

छाया—मृषावादश्च लोके, सर्वसाधुभिर्गर्हित ।
अविश्वासश्च भूताना, तस्यान्मृषां विवर्जयेत् ॥२॥

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति ! (लोगम्मि) इस लोक मे (य) हिंसा के सिवाय और (मुसावाओ) मृषावाद को भी (सव्वसाहूहि) सब अच्छे पुरुषों ने (गरहिओ) निन्दनीय कहा है। (य) और इस मृषावाद से (भूयाण) प्राणियो को (अविस्सासो) अविश्वास होता है। (तम्हा) इसलिए (मोस) झूठ को (विवज्जए) छोड देना चाहिए।

भावार्थ—हे गौतम ! इस लोक मे हिंसा के सिवाय और भी जो मृषावाद (झूठ) है, वह अच्छे पुरुषो के द्वारा निन्दनीय बताया गया है। झूठ बोलने वाला अविश्वास का पात्र भी होता है। इसलिए साधु पुरुष झूठ बोलना आजीवन के लिए छोड देते हैं।

मूल—चित्तमतमचित्त वा, अप्प वा जइ वा बहुं।
दत्तसोहणमेत्त पि, उग्गहसि अजाइया ॥३॥

छाया—चित्तवन्तमचित्त वा, अल्प वा यदि वा बहु।
दन्तशोधनमात्रमपि, अवग्रहमयाचित्वा ॥३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (अप्प) अल्प (जइ वा) अथवा (बहु) बहुत (चित्तमत) सचेतन (वा) अथवा (अचित्त) अचेतन (दतसोहणमेत्त पि) दांत साफ करने का तिनका भी (अजाइया) याचे बिना ग्रहण नही करते हैं। (उग्गहसि) पडियारी वस्तु तक भी गृहस्थ के दिये बिना वे नहीं लेते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! चेतन वस्तु जैसे शिष्य, अचेतन वस्तु वस्त्र, पात्र वगैरह यहाँ तक कि दांत कुचलने का तिनका वगैरह भी गृहस्थ के दिये बिना साधु कभी ग्रहण नही करते हैं, और अवग्रहिक पडियारी वस्तु[1] अर्थात् कुछ समय तक रखकर बाद मे सौंपदे, उन चीजो को भी गृहस्थो के दिये बिना साधु कभी नही लेते हैं।

मूलः—मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सय।
तम्हा मेहुणससग्ग, निग्गथा वज्जयति णं ॥४॥

---

1 An article of use (for a monk) to be used for a time and then to be returned to its owner.

छाया:—मूलमेतदधर्मस्य, महादोषसमुच्छ्रयम् ।
तस्मान्मैथुनससर्गं, निर्ग्रन्थाः परिवर्जयन्तितम् ॥४॥

अन्वयार्थ·—हे इन्द्रभूति ! (एय) यह (मेहुणससग्गं) मैथुन विषयक संसर्ग (अहम्मस्स) अधर्म का (मूल) मूल है । और (महादोससमुस्सय) महान् दूषित विचारो को अच्छी तरह से बढाने वाला है । (तम्हा) इसलिए (निग्गथा) निर्ग्रन्थ साधु मैथुन संसर्ग को (वज्जयति) छोड देते है । (ण) वाक्यालकार मे ।

भावार्थ·—हे गौतम ! यह अब्रह्मचर्य अधर्म उत्पन्न कराने मे परम कारण है, और हिंसा, झूठ, चोरी, कपट आदि महान् दोषो को खूब बढाने वाला है । इसलिए मुनिधर्म पालने वाले महापुरुष सब प्रकार से मैथुन ससर्ग का परित्याग कर देते है ।

मूल.—लोभस्से समणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे गिही पव्वइए न से ॥५॥

छाया·—लोभस्यैष अनुस्पर्श., मन्येऽन्यतरामपि ।
यः स्यात् सन्निधिं कामयेत्, गृही प्रव्रजितो न स· ॥५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (लोभस्स) लोभ की (एस) यह (अणुप्फासो) महत्ता है कि (अन्नयरामवि) गुड, घी, शक्कर आदि मे से कोई एक पदार्थ को भी (जे) जो साधु होकर (सिया) कदाचित् (सन्निहीकामे) अपने पास रात भर रखने की इच्छा करले तो (से) वह (न) न तो (गिही) गृहस्थी है और न (पव्वइए) प्रव्रजित दीक्षित ही है, ऐसा तीर्थंकर (मन्ने) मानते है ।

भावार्थ·—हे गौतम ! लोभ, चारित्र के सम्पूर्ण गुणो को नाश करने वाला है; इसीलिए इसकी इतनी महत्ता है । तीर्थंकरो ने ऐसा माना है और कहा है कि गुड, घी, शक्कर आदि वस्तुओ मे किसी भी वस्तु को साधु हो कर कदाचित् अपने पास रात भर रखने की इच्छा मात्र करे या औरो के पास रखवा लेवे तो वह गृहस्थ भी नही है क्योकि उसके पहनने का वेप साधु का है और वह साधु भी नही है क्योकि जो साधु होते हैं; उनके लिए उपरोक्त कोई भी चीजें रात मे रखने की इच्छा मात्र भी करना मना है । अतएव साधु को दूसरे दिन के लिए खाने तक की कोई वस्तु का भी सग्रह करके न रखना चाहिए ।

मूल—ज पि वत्थं व पायं वा कम्बलं पायपुंच्छण ।
त पि सजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहरति य ॥६॥

छाया:—यदपि वस्त्रं वा पात्र वा, कम्बलं पादपुञ्छनम् ।
तदपि सयमलज्जार्थम्, धारयन्ति परिहरन्ति च ॥६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (ज) जो (पि) भी (वत्थ) वस्त्र (वा) अथवा (पाय) पात्र (वा) अथवा (कम्बल) कम्बल (पायपुच्छण) पग पोछने का वस्त्र (त) उसको (पि) भी (सजमलज्जट्ठा) सयम लज्जा 'रक्षा' के लिए (धारेन्ति) लेते हैं (य) और (परिहरति) पहनते हैं ।

भावार्थ—हे गौतम ! जब यह कह दिया कि कोई भी वस्तु नही रखना और वस्त्र पात्र वगैरह साधु रखते हैं, तो भला लोभ के सबध मे इस जगह सहज ही प्रश्न उठता है । किन्तु जो सयम रखने वाला साधु है, वह केवल सयम की रक्षा के हेतु वस्त्र पात्र वगैरह लेता है और पहनता है । इसलिए सयम पालने के लिए उसके साधन वस्त्र, पात्र वगैरह रखने मे लोभ नही है क्योंकि मुनियो को उनमे ममता नही होती ।

॥ सुधर्मोवाच ॥

मूलः—न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्त महेसिणा ॥७॥

छायाः—न स परिग्रह उक्त, ज्ञातपुत्रेण त्रायिणा ।
मूर्च्छापरिग्रह उक्त., इत्युक्तं महर्षिणा ॥७॥

अन्वयार्थ—हे जम्बू ! (सो) सयम की रक्षा के लिए रखे हुए वस्त्र, पात्र वगैरह हैं उनको (परिग्गहो) परिग्रह (ताइणा) त्राता (नायपुत्तेण) महावीर (न) नहीं (वुत्तो) कहा है, किन्तु उन वस्तुओ पर (मुच्छा) मोह रखना वही (परिग्गहो) परिग्रह (वुत्तो) कहा जाता है (इइ) इस प्रकार (महेसिणा) तीर्थंकरो ने (वुत्तं) कहा है ।

छाया:—मूलमेतदधर्मस्य, महादोषसमुच्छ्रयम् ।
तस्मान्मैथुनससर्गं, निर्ग्रन्थाः परिवर्जयन्तितम् ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एय) यह (मेहुणसंसग्ग) मैथुन विषयक ससर्ग (अहम्मस्स) अधर्म का (मूल) मूल है । और (महादोससमुस्सय) महान् दूषित विचारो को अच्छी तरह से बढाने वाला है । (तम्हा) इसलिए (निग्गथा) निर्ग्रन्थ साधु मैथुन संसर्ग को (वज्जयति) छोड देते है । (ण) वाक्यालकार मे ।

भावार्थः—हे गौतम ! यह अब्रह्मचर्य अधर्म उत्पन्न कराने मे परम कारण है, और हिंसा, झूठ, चोरी, कपट आदि महान् दोषो को खूब बढाने वाला है । इसलिए मुनिधर्म पालने वाले महापुरुष सब प्रकार से मैथुन संसर्ग का परित्याग कर देते हैं ।

मूल:—लोभस्से समणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे गिही पव्वइए न से ॥५॥

छाया:—लोभस्यैष अनुस्पर्शः, मन्येऽन्यतरामपि ।
यः स्यात् सन्निधिं कामयेत्, गृही प्रव्रजितो न स. ॥५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (लोभस्स) लोभ की (एस) यह (अणुप्फासो) महत्ता है कि (अन्नयरामवि) गुड, घी, शक्कर आदि मे से कोई एक पदार्थ को भी (जे) जो साधु होकर (सिया) कदाचित् (सन्निहीकामे) अपने पास रात भर रखने की इच्छा करले तो (से) वह (न) न तो (गिही) गृहस्थी है और न (पव्वइए) प्रव्रजित दीक्षित ही है, ऐसा तीर्थंकर (मन्ने) मानते है ।

भावार्थः—हे गौतम ! लोभ, चारित्र के सम्पूर्ण गुणो को नाश करने वाला है; इसीलिए इसकी इतनी महत्ता है । तीर्थंकरो ने ऐसा माना है और कहा है कि गुड, घी, शक्कर आदि वस्तुओ मे किसी भी वस्तु को साधु हो कर कदाचित् अपने पास रात भर रखने की इच्छा मात्र करे या औरो के पास रखवा लेवे तो वह गृहस्थ भी नही है क्योकि उसके पहनने का वेष साधु का है और वह साधु भी नही है क्योकि जो साधु होते हैं, उनके लिए उपरोक्त कोई भी चीजें रात मे रखने की इच्छा मात्र भी करना मना है । अतएव साधु को दूसरे दिन के लिए खाने तक की कोई वस्तु का भी सग्रह करके न रखना चाहिए ।

मूल—ज पि वत्थं व पाय वा कम्बल पायपुंच्छणं ।
त पि सजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहरति य ॥६॥

छाया:—यदपि वस्त्र वा पात्र वा, कम्बल पादपुञ्छनम् ।
तदपि सयमलज्जार्थम्, धारयन्ति परिहरन्ति च ॥६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (ज) जो (पि) भी (वत्थ) वस्त्र (वा) अथवा (पाय) पात्र (वा) अथवा (कम्बल) कम्बल (पायपुञ्छण) पग पोछने का वस्त्र (त) उसको (पि) भी (सजमलज्जट्ठा) सयम लज्जा 'रक्षा' के लिए (धारेन्ति) लेते हैं (य) और (परिहरति) पहनते हैं ।

भावार्थ—हे गौतम ! जब यह कह दिया कि कोई भी वस्तु नही रखना और वस्त्र पात्र वगैरह साधु रखते हैं, तो भला लोभ के सबध मे इस जगह सहज ही प्रश्न उठता है । किन्तु जो सयम रखने वाला साधु है, वह केवल सयम की रक्षा के हेतु वस्त्र पात्र वगैरह लेता है और पहनता है। इसलिए सयम पालने के लिए उसके साधन वस्त्र, पात्र वगैरह रखने मे लोभ नही है क्योकि मुनियो को उनमे ममता नही होती ।

॥ सुधर्मोवाच ॥

मूल:—न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्त महेसिणा ॥७॥

छाया:—न स परिग्रह उक्त, ज्ञातपुत्रेण त्रायिणा ।
मूर्च्छापरिग्रह उक्त, इत्युक्त महर्षिणा ॥७॥

अन्वयार्थ—हे जम्बू ! (सो) सयम की रक्षा के लिए रखे हुए वस्त्र, पात्र वगैरह हैं उनको (परिग्गहो) परिग्रह (ताइणा) त्राता (नायपुत्तेण) महावीर (न) नही (वुत्तो) कहा है, किन्तु उन वस्तुओ पर (मुच्छा) मोह रखना वही (परिग्गहो) परिग्रह (वुत्तो) कहा जाता है (इइ) इस प्रकार (महेसिणा) तीर्थंकरो ने (वुत्तं) कहा है ।

भावार्थः—हे जम्बू ! सयम को पालने के लिए जो वस्त्र, पात्र वगैरह रक्खे जाते हैं, उनको तीर्थंकरों ने परिग्रह[1] नही कहा है। हाँ, यदि वस्त्र, पात्र आदि पर ममत्व भाव हो, या वस्त्र, पात्र ही क्यो, अपने शरीर पर देखो न, इस पर भी ममत्व यदि हुआ, कि अवश्य वह परिग्रह के दोष से दूषित वन जाता है। और वह परिग्रह का दोष चारित्र के गुणों को नष्ट करने मे सहायक होता है।

मूलः—एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयण ॥८॥

छायाः—एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।
सर्वाहारं न भुञ्जते, निर्ग्रन्था रात्रिभोजनम् ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (च) और (एय) इस (दोसं) दोष को (दट्ठूण) देख कर (नायपुत्तेण) तीर्थंकर श्री महावीर ने (भासिय) कहा है। (निग्गथा) निर्ग्रन्थ जो हैं वे (सव्वाहार) सब प्रकार के आहार को (राइभोयण) रात्रि के भोजन अर्थात् रात्रि मे (नो) नही (भुजति) भोगते है।

भावार्थः—हे गौतम ! रात्रि के समय भोजन करने मे कई तरह के जीव भी खाने मे आ जाते हैं। अत उन जीवो की, भोजन करने वालो से हिंसा हो जाती है। और वे फिर कई तरह के रोग भी पैदा करते हैं। अत. रात्रि-भोजन करने मे ऐसा दोष देख कर वीतरागो ने उपदेश किया है कि जो निर्ग्रन्थ[2] होते हैं वे सब प्रकार से खाने-पीने की कोई भी वस्तु का रात्रि मे सेवन नही करते हैं।

मूलः—पुढविं न खणे न खणावए,
सीओदग न पिए न पियावए ।
अगणिसत्थं जहा सुनिसियं,
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥९॥

---

1 Attachment to mammon; the fifth papasthanaka.
2 Possessionless or passionless ascetic

छाया:—पृथिवी न खनेन्न खानयेत्
शीतोदक न पिवेन्न पाययेत् ।
अग्निशस्त्र यथा सुनिशितम्,
त न ज्वलेन्न ज्वालयेत् य. स भिक्षु. ॥९॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (पुढविं) पृथ्वी को स्वय (न) नही (खणे) खोदे औरो से भी (न) न (खणावए) खुदवावे (सीओदग) शीतोदक-सचित्तजल को (न) नही पीवे, औरो को भी (न) नही (पियावए) पिलावे, (जहा) जैसे (सुनिसिय) खूब अच्छी तरह तीक्ष्ण (सत्थ) शस्त्र होता है, उसी तरह (अगणि) अग्नि है (त) उसको स्वय (न) नही (जले) जलावे, औरो से भी (न) न (जलावए) जलवावे (स) वही (भिक्खू) साधु है।

भावार्थ—हे गौतम ! सर्वथा हिंसा से जो बचना चाहता है वह न स्वय पृथ्वी को खोदे और न औरो से खुदवावे। इसी तरह न सचित्त (जिसमे जीव हो उस) जल को खुद पीवे और न औरो को पिलावे। उसी तरह न अग्नि को भी स्वय प्रदीप्त करे और न औरो ही से प्रदीप्त करवावे बस, वही साधु है।

मूल—अनिलेण न वीए न वीयावए,
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए।
बीयाणि सया विवज्जयतो,
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥१०॥

छायाः—अनिलेन न बीजयेत् न बीजायेत्,
हरितानि न च्छिदयेन्नच्छेदयेत्।
बीजानि सदा विवर्जयन्,
सचित्तं नाहरेद् य स भिक्षु· ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (अनिलेण) वायु के हेतु पखे को (न) नही (वीए) चलाता है, और (न) न औरो से ही (वीयावए) चलवाता है (हरि-

याणि) वनस्पतियो को स्वतः (न) नही (छिंदे) छेदता और (न) न औरो ही से (छिंदावए) छिदवाता है, (बीयाणि) बीजो को छेदना (सया) सदा (विवज्जयतो) छोडता हुआ (सच्चित्त) सचित्त पदार्थ को जो (न) न (आहारए) खाता है। (स) वही (भिक्खू) साधु है।

भावार्थः—हे गौतम! जिसने इन्द्रिय-जन्य सुखो की ओर से अपना मुंह मोड लिया है, वह कभी भी हवा के लिये पखों का न तो स्वत. प्रयोग करता है और न औरो से उसका प्रयोग करवाता है। और पान, फल, फूल आदि वनस्पतियो का भक्षण छोडता हुआ, सचित्त[1] पदार्थों का कभी आहार नही करता, वही साधु है। तात्पर्य यह है कि साधु किसी भी प्रकार का हिंसाजनक आरभ नही करते।

मूलः—महुकारसमा बुद्धा, जे भवति अणिस्सिया।
नाणापिण्डरया दता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥११॥

छायाः—मधुकरसमा बुद्धाः, ये भवन्त्यनिश्रिताः।
नानापिण्डरता दान्ताः, तेनोच्यन्ते साधवः ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (महुकारसमा) जिस प्रकार थोडा-थोडा रस लेकर भ्रमर जीवन बिताते हैं, ऐसे ही (जे) जो (दता) इन्द्रियो को जीतते हुए (नाणापिंडरया) नाना प्रकार के आहार मे उद्वेग रहित रहने वाले हैं ऐसे (बुद्धा) तत्त्वज्ञ (अणिस्सिया) नेश्राय रहित (भवति) होते हैं (तेण) इसी से उन्हे (साहुणो) साधु (वुच्चति) कहते हैं।

भावार्थ—हे गौतम! जिस प्रकार भ्रमर फूलो पर से थोडा-थोडा रस लेकर अपना जीवन बिताता है। इसी तरह जो अपनी इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करते हुए तीखे, कडुवे, मधुर आदि नाना प्रकार के भोजनो मे उद्वेग रहित होते है तथा जो समय पर जैसा भी निर्दोष भोजन मिला, उसी को खाकर आनदमय सयमी जीवन को अनेश्रित होकर बिताते है, उन्ही को हे गौतम! साधु कहते हैं।

---

1 An animate thing, as water, flower, fruit, green grass etc.

मूल—जे न वदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स सामण्णमणुचिट्ठइ ॥१२॥

छाया:—यो न वन्देत् न तस्मै कुप्येत्, वन्दितो न समुत्कर्षेत् ।
एवमन्वेषमानस्य, श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥१२॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो कोई गृहस्थ साधु को (न) नहीं (वदे) वन्दना करता (से) वह साधु उस गृहस्थ पर (न) न (कुप्पे) क्रोध करे, और (वदिओ) वदना करने पर न (समुक्कसे) उत्कर्षता ही दिखावे (एव) इस प्रकार (अन्नेसमाणस्स) गवेषणा करने वाले का (सामण्ण) श्रामण्य अर्थात् साधुता (अणुचिट्ठइ) रहता है ।

भावार्थ—हे गौतम ! साधु को कोई वन्दना करे या न करे तो उस गृहस्थ पर वह साधु क्रोधित न हो । साधुता के गुणों पर यदि कोई राजादि मुग्ध हो जाय और वह वन्दनादि करे तो वह साधु गर्वान्वित भी कभी न हो, बस, इस प्रकार चारित्र को दूषित करने वाले दूषणो को देखता हुआ उनसे बाल-बाल बचता रहे उसी का चारित्र[1] अखण्ड रहता है ।

मूल.—पण्णसमत्ते सया जए, समताधम्ममुदाहरे मुणी ।
सुहमे उ सया अलूसए, णो कुज्झे णो माणि माहणे ॥१३॥

छाया—प्रज्ञा समाप्तः सदा जयेत् समतया धर्म मुदाहरेन्मुनिः ।
सूक्ष्मे तु अलूषक, न क्रुध्येन्न मानी माहन् ॥१३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (मुणी) वह साधु (पण्णसमत्ते) समग्र प्रज्ञा करके सहित तथा प्रश्न करने पर उत्तर देने में समर्थ (सया) हमेशा (जए) कषायादि को जीते (समताधम्ममुदाहरे) समभाव से धर्म को कहता हो, और (सया) सदैव (सुहमे) सूक्ष्म चारित्र मे (अलूसए) अविराधक हो, उन्हें ताडने पर (णो) नही (कुज्झे) क्रोधित हो एव सत्कार करने पर (णो) नहीं (माणि) मानी हो, वही (माहणे) साधु है ।

---

1 Right conduct, ascetic conduct inspired by the subsidence of obstructive Karma

भावार्थः—हे गौतम ! तीक्ष्ण बुद्धि से सहित हो, प्रश्न करने पर जो शान्ति से उत्तर देने मे समर्थ हो, समता भाव से जो धर्मकथा कहता हो, चारित्र मे सूक्ष्म रीति से भी जो विराधक न हो, ताडने तर्जने पर क्रोधित और सत्कार करने पर गर्वान्वित जो न होता हो, सचमुच मे वही साधु पुरुष है ।

मूल.—न तस्स जाई व कुलं व ताणं,
णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिन्नं ।
णिक्खम से सेवइ गारिकम्म,
ण से पारए होइ विमोयणाए ॥१४॥

छायाः—न तस्य जातिर्वा कुल वा त्राण,
नान्यत्र विद्या चरण सूचीर्णम् ।
निष्क्रम्य स· सेवतेऽगारिकर्म,
न स पारगो भवति विमोचनाय ॥१४॥

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति ! (सुचिम्न) अच्छी तरह आचरण किये हुए (चरणं) चारित्र (विज्जा) ज्ञान के (णण्णत्थ) सिवाय (तस्स) उसके (जाई) जाति (व) और (कुल) कुल (ताण) शरण (न) नही होता है। जो (से) वह (णिक्खम) ससार प्रपच से निकल कर (गारिकम्मं) पुन गृहस्थ कर्म (सेवइ) सेवन करता (से) वह (विमोयणाए) कर्म मुक्त करने के लिए (पारए) ससार से परले पार (ण) नही (होइ) होता है ।

भावार्थः—हे गौतम ! साधु होकर जाति और कुल का जो मद करता है, इसमे उसकी साधुता नही है । प्रत्युत वह गर्व त्राणभूत न होकर हीन जाति और कुल मे पैदा करने की सामग्री एकत्रित करता है । केवल ज्ञान एव क्रिया के सिवाय और कुछ भी परलोक मे हित कारक नही है। और साधु होकर गृहस्थ जैसे कार्य फिर करता है वह ससार समुद्र से परले पार होने मे समर्थ नही है ।

मूलः—एवं ण से होइ समाहिपत्ते,
जे पन्नव भिक्खु विउक्कसेज्जा ।
अहवा वि जे लाभमयावलित्ते,
अन्न जण खिसति बालपन्ने ॥१५॥

छायाः—एव न स भवति समाधिप्राप्त,
यः प्रज्ञया भिक्षु व्युत्कर्षेत् ।
अथवाऽपि यो लाभमदावलिप्त,
अन्य जन खिसति बालप्रज्ञ ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एव) इस प्रकार से (से) वह गर्व करने वाला साधु (समाहिपत्ते) समाधि मार्ग को प्राप्त (ण) नही (होइ) होता है । और (जे) जो (पन्नव) प्रज्ञावत (भिक्खु) साधु होकर (विउक्कसेज्जा) आत्म-प्रशसा करता है । (अहवा) अथवा (जे) जो (लाभमयावलित्ते) लाभ मद मे लिप्त हो रहा है वह (बालपन्ने) मूर्ख (अन्न) अन्य (जण) जन की (खिसति) निन्दा करता है ।

भावार्थः—हे गौतम ! मैं जातिवान् हूँ, कुलवान् हूँ इस प्रकार का गर्व करने वाला साधु समाधि मार्ग को कभी प्राप्त नही होता है । जो बुद्धिमान् हो कर फिर भी अपने आप ही की आत्म-प्रशसा करता है, अथवा यो कहता है, कि मैं ही साधुओ के लिये वस्त्र, पात्र आदि का प्रबन्ध करता हूँ । बेचारा दूसरा क्या कर सकता है ? वह तो पेट भरने तक की चिन्ता दूर नही कर सकता, इस तरह दूसरो की निन्दा जो करता है, वह साधु कभी नही है ।

मूलः—नो पूयण चेव सिलोयकामी,
पियमप्पिय कस्सइ णो करेज्जा ।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयते,
अणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥१६॥

छाया·—न पूजन चैव श्लाककामी,
प्रियमप्रिय कस्यापि नो कुर्यात्।
सर्वानर्थान् परिवर्जयन्,
अनाकुलश्च अकषायी भिक्षुः ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (भिक्खू) साधु (पूयण) वस्त्र पात्रादि की (न) इच्छा न करे (चेव) और न (सिलोयकामी) आत्म-प्रशसा का कामी ही हो (कस्सइ) किसी के साथ (पियमप्पिय) राग और द्वेष (णो) न (करेज्जा) करे (सव्वे) सभी (अणट्ठे) अनर्थकारी बातो को जो (परिवज्जयते) छोड दे (अणाउले) फिर भय रहित (या) और (अकसाइ) कषाय रहित हो।

भावार्थः—हे गौतम ! साधु प्रवचन करते समय वस्त्रादि की प्राप्ति की एव आत्म-प्रशसा की वाछा कभी न रखे। या किसी के साथ राग और द्वेप से सवध रखने वाले कथन को भी वह न कहे। इस प्रकार आत्मा को कलुषित करने वाली सभी अनर्थकारी वातो को छोडते हुए भय एव कषाय रहित होकर साधु को प्रवचन करना चाहिए।

मूलः—जाए सद्धाए निक्खतो, परियायट्ठाणमुत्तम।
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरियसम्मए ॥१७॥

छायाः—यया श्रद्धया निष्क्रान्त·, पर्यायस्थानमुत्तमम्।
तदेवानुपालयेत् गुणेपु आचार्यसम्मतेपु ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जाए) जिस (सद्धाए) श्रद्धा से (उत्तम) प्रधान (परियायट्ठाण) प्रव्रज्यास्थान प्राप्त करने को (निक्खतो) मायामय कर्मों से निकला (तमेव) वैसी ही उच्च भावनाओ से (आयरियसम्मए) तीर्थंकर कथित (गुणे) गुण (अणुपालिज्जा) पालना चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम ! जो गृहस्थ जिस श्रद्धा से प्रधान दीक्षा स्थान प्राप्त करने को मायामय काम रूप ससार से पृथक् हुआ उसी भावना से जीवन-पर्यन्त उसको तीर्थंकर प्ररूपित गुणो मे वृद्धि करते रहना चाहिये।

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

□

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(दसवां अध्याय)

प्रमाद-परिहार

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—दुमपत्तए पडुरए जहा,
निवडइ राइगणाण अच्चए।
एव मणुआण जीविअ,
समय गोयम ! मा पमायए ॥१॥

छाया—द्रुमपत्रक पाण्डुरक यथा, निपतति रात्रिगणाणामत्यये।
एव मनुजाना जीवित, समय गौतम ! मा प्रमादी. ॥१॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (जहा) जैसे (राइगणाणअच्चए) रात दिन के समूह बीत जाने पर (पडुरए) पक जाने से (दुमपत्तए) वृक्ष का पत्ता (निवडइ) गिर जाता है (एव) ऐसे ही (मणुआण) मनुष्यो का (जीविअ) जीवन है। अतः (समय) एक समय मात्र के लिए भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ—हे गौतम ! जैसे समय पाकर वृक्ष के पत्ते पीले पड जाते हैं, फिर वे पक कर गिर जाते हैं। उसी प्रकार मनुष्यो का जीवन नाशशील है। अत हे गौतम ! धर्म का पालन करने मे एक क्षण मात्र भी व्यर्थ मत गँवाओ।

मूलः—कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोव चिट्ठइ लबमाणए।
एवं मणुआण जीविअं, समय गोयम ! मा पमायए ॥२॥

छाया:—कुशाग्र यथाऽवश्यायविन्दुः, स्तोकं तिष्ठति लम्बमानकः।
एव मनुजानां जीवितं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (जह) जैसे (कुसग्गे) कुश के अग्रभाग पर (लंबमाणए) लटकती हुई (ओसबिंदुए) ओस की बूंद (थोव) अल्प समय (चिट्ठइ) रहती है (एव) इसी प्रकार (मणुआण) मनुष्य का (जीविअ) जीवन है। अतः (समय) एक समय मात्र (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! जैसे घास के अग्रभाग पर तरल ओस की बूंद थोड़े ही समय तक टिक सकती है। ऐसे ही मानव शरीर धारियो का जीवन है। अतः हे गौतम ! जरा से समय के लिए भी गाफिल मत रह।

मूलः—इइ इत्तरिअम्मि आउए,
जीविअए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रय पुरेकडं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥३॥

छाया:—इतीत्वर आयुषि, जीवितके बहु प्रत्यवायके।
विधुनीहि रजः पुराकृत, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥३॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (इइ) इस प्रकार (आउए) निरुपक्रम आयुष्य (इत्तरिअम्मि) अल्प काल का होता हुआ और (जीविअए) जीवन सोपक्रमी होता हुआ (बहुपच्चवायए) बहुत विघ्नो से घिरा हुआ समझ करके (पुरेकडं) पहले की हुई (रय) कर्म रूपी रज को (विहुणाहि) दूर करो। इस कार्य मे (समय) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! जिसे शस्त्र, विष, आदि उपक्रम भी वाधा नही पहुंचा सकते, ऐसा नोपक्रमी (अकाल मृत्यु से रहित) आयुष्य भी थोड़ा होता है। और शस्त्र, विष आदि से जिसे वाधा पहुंच सके ऐसा सोपक्रमी जीवन थोडा ही है। उसमे भी ज्वर, खांसी आदि अनेक व्याधियो का विघ्न भरा पडा होता है। ऐसा समझ कर हे गौतम ! पूर्व के किये हुए कर्मो को दूर करने मे क्षणभर प्रमाद न करो।

मूल —दुल्लहे खलु माणुसे भवे,
चिरकालेण वि सव्वपाणिण ।
गाढा य विवाग कम्मुणो,
समय गोयम ! मा पमायए ॥४॥

छाया—दुर्लभ· खलु मानुष्यो भव: चिरकालेनापि सर्वप्राणिनाम् ।
गाढाश्च विपाका· कर्मणा, समय गौतम ! मा प्रमादी: ॥४॥

अन्वयार्थ—(गोयम !) हे गौतम ! (सव्वपाणिण) सब प्राणियो को (चिरकालेण वि) बहुत काल से भी (खलु) निश्चय करके (माणुसे) मनुष्य (भवे) भव (दुल्लहे) मिलना कठिन है । (य) क्योकि (कम्मुणो) कर्मों के (विवाग) विपाक को (गाढा) नाश करना कठिन है । अतः (समय) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः—हे गौतम ! जीवो को एकेन्द्रिय आदि योनियो में इधर-उधर जन्मते-मरते हुए बहुत काल गया । परन्तु दुर्लभ मनुष्य जन्म नही मिला । क्योकि मनुष्य जन्म के प्राप्त होने मे जो रोडा अटकाते हैं ऐसे कर्मों का विपाक नाश करने मे महान् कठिनाई है । अतः हे गौतम ! मानव देह पाकर पल भर भी प्रमाद मत कर ।

मूल:—पुढविकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं सखाईय, समय गोयम ! मा पमायए ॥५॥

छाया —पृथिवीकायमतिगत , उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् ।
कालं सख्यातीत, समय गौतम ! मा प्रमादी: ॥५॥

अन्वयार्थ—(गोयम !) हे गौतम ! (पुढविकायमइगओ) पृथ्वीकाय मे गया हुआ (जीवो) जीव (उक्कोस) उत्कृष्ट (सखाईय) संख्या से अतीत अर्थात् असख्य (काल) काल तक (सवसे) रहता है । अत. (समय) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थ.—हे गौतम ! यह जीव पृथ्वीकाय[1] मे जन्म-मरण को धारण करता हुआ उत्कृष्ट असख्य काल अर्थात् असख्य अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल तक को बिताता रहता है । अत हे मानव-देह-धारी गौतम ! तुझे एक क्षण मात्र की भी गफलत करना उचित नही है ।

मूल.—आउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
काल संखाईयं, समय गोयम ! मा पमायए ॥६॥
तेउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ सवसे ।
काल सखाईय, समय गोयम ! मा पमायए ॥७॥
वाउक्कायमइगओ, उक्कोस जीवो उ सवसे ।
कालं सखाईय, समयं गोयम ! मा पमायए ॥८॥

छाया:—अपकायमतिगत:, उत्कर्षतो जीवस्तु सवसेत् ।
काल सख्यातीत, समय गौतम ! मा प्रमादी: ॥६॥
तेज:कायमतिगत:, उत्कर्षतो जीवस्तु सवसेत् ।
काल सख्यातीत, समय गौतम ! मा प्रमादी: ॥७॥
वायुकायमतिगत:, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् ।
काल सख्यातीत, समय गौतम ! मा प्रमादी: ॥८॥

अन्वयार्थ:—(गोयम !) हे गौतम ! (जीवो) जीव (आउक्कायमइगओ) अपकाय को प्राप्त हुआ (उक्कोस) उत्कृष्ट (सखाईय) असख्यात (काल) काल तक (संवसे) रहता है । अत (समय) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ॥६॥ इसी तरह (तेउक्कायमइगओ) अग्निकाय को प्राप्त हुआ जीव और (वाउक्कायमइगओ) वायुकाय को प्राप्त हुआ जीव असख्य काल तक रह जाता है ॥७-८॥

भावार्थ—हे गौतम ! इसी तरह यह आत्मा जल, अग्नि तथा वायु काय मे असख्य काल तक जन्म-मरण को धारण करता रहता है । इसीलिए तो कहा

---

1 Body of the living beings of the earth

जाता है कि मानव-जन्म मिलना महान कठिन है। अतएव हे गौतम ! तुझे धर्म का पालन करने मे तनिक भी गाफिल न रहना चाहिए।

मूल—वणस्सइकायमइगओ, उक्कोस जीवो उ सवसे।
कालमणत दुरतय, समय गोयम ! मा पमायए ॥९॥

छाया—वनस्पतिकायमतिगत, उत्कर्षतो जीवस्तु सवसेत्।
कालमनन्त दुरन्त, समय गौतम ! मा प्रमादी ॥९॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (वणस्सइकायमइगओ) वनस्पतिकाय मे गया हुआ (जीवो) जीव (उक्कोस) उत्कृष्ट (दुरतय) कठिनाई से अन्त आवे ऐसा (अणत) अनत (काल) काल तक (सवसे) रहता है। अतः (समय) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ—हे गौतम ! यह आत्मा वनस्पतिकाय मे अपने कृत-कर्मों द्वारा जन्म-मरण करता है, तो उत्कृष्ट अनत काल तक उसी मे गोता लगाया करता है। और इसी से उस आत्मा को मानव शरीर मिलना कठिन हो जाता है। इसलिए हे गौतम ! पल भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

मूलः—बेइदिअकायमइगओ,
उक्कोस जीवो उ सवसे।
काल सखिज्जसण्णिअ,
समय गोयम ! मा पमायए ॥१०॥

छाया—द्वीन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु सवसेत्।
काल सख्येयसज्ञित, समय गौतम ! मा प्रमादी ॥१०॥

अन्वयार्थ—(गोयम !) हे गौतम ! (वेइदिअकायमइगओ) द्वीन्द्रिय योनि को प्राप्त हुआ (जीवो) जीव (उक्कोस) उत्कृष्ट (सखिज्जसण्णिअ) सख्या की सज्ञा है जहाँ तक ऐसे (काल) काल तक (सवसे) रहता है। अत (समय) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ—हे गौतम ! जब यह आतमा दो इन्द्रियवाली योनियो मे जाकर जन्म धारण करता है तो काल गणना की जहाँ तक सख्या बताई जाती है वहाँ तक अर्थात् सख्यात काल तक उसी योनि मे जन्ममरण को धारण करता रहता है। अत. हे गौतम ! क्षणमात्र का भी प्रमाद न कर।

मूल·——तेइदियकायमइगओ,
उक्कोस जीवो उ संवसे।
काल संखिज्जसण्णिअ,
समय गोयम ! मा पमायए ॥११॥

चउरिंदियकायमइगओ,
उक्कोस जीवो उ सवसे।
कालं संखिज्जसण्णिअ,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१२॥

छाया·—त्रीन्द्रियकायमतिगत. उत्कर्षतो जीवस्तु सवसेत्।
कालं सख्येयसज्ञित, समय गौतम ! मा प्रमादी: ॥११॥
चतुरिन्द्रियकायमतिगत· उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
काल सख्येयसज्ञित, समय गौतम ! मा प्रमादी· ॥१२॥

अन्वयार्थ.—(गोयम !) हे गौतम ! (तेइदियकायमइगओ) तीन इन्द्रियवाली योनि को प्राप्त हुआ (जीवो) जीव (उक्कोस) उत्कृष्ट (सखिज्जसण्णिअ) काल गणना की जहाँ तक संख्या बताई जाती है वहाँ तक अर्थात् सख्यात (कालं) काल तक (सवसे) रहता है। इसी तरह (चउरिंदियकायमइगओ) चतुरिंद्रिय वाली योनि को प्राप्त हुए जीव के लिए भी जानना चाहिए अत (समय) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! जब यह आत्मा तीन इन्द्रिय तथा चार इन्द्रियवाली योनि मे जाता है तो अधिक से अधिक सख्यात काल तक उन्ही योनियों मे जन्म-मरण को धारण करता रहता है। अत हे गौतम ! धर्म की वृद्धि करने मे एक पल भर का भी कभी प्रमाद न कर।

मूल—पंचिंदिकायमइगओ, उक्कोस जीवो उ सवसे ।
सत्तट्ठभवग्गहणे, समय गोयम ! मा पमायए ॥१३॥

छाया—पचेन्द्रियकायमतिगत, उत्कर्षतो जीवस्तु सवसेत् ।
सप्ताष्टभवग्रहणानि, समय गौतम ! मा प्रमादी ॥१३॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (पंचिदियकायमइगओ) पाँच इन्द्रिय वाली योनि को प्राप्त हुआ (जीवो) जीव (उक्कोस) उत्कृष्ट (सत्तट्ठभवग्गहणे) सात आठ भव तक (सवसे) रहता है। अत (समय) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! यह आत्मा पचेन्द्रियवाली तिर्यंच की योनियो मे जब जाता है, तब यह अधिक से अधिक सात आठ भव तक उसी योनि मे निवास करता है अत हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

मूलः—देवे नेरइए अइगओ, उक्कोस जीवो उ सवसे ।
इक्किक्कभवग्गहणे, समय गोयम ! मा पमायए ॥१४॥

छाया—देवेनैरयिकेचातिगत, उत्कर्षतो जीवस्तु सवसेत् ।
एकैकभवग्रहण, समय गौतम ! मा प्रमादी ॥१४॥

अन्वयार्थ—(गोयम !) हे गौतम ! (देवे) देव (नेरइए) नारकीय भवों मे (अइगओ) गया हुआ (जीवो) जीव (इक्किक्कभवग्गहणे) एक एक भव तक उसमे (सवसे) रहता है। अत (समय) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद कभी मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! जब यह आत्मा देव अथवा नारकीय भवो मे जन्म लेता है तो वहाँ एक एक जन्म तक यह रहता है (बीच मे नही निकल सकता) अतएव हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूल—एवं भवससारे, ससरइ सुहासुहेहि कम्मेहिं ।
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१५॥

छाया·—एव भवससारे, ससरति शुभाशुभैः कर्मभिः।
जीवो बहुल प्रमादः, समयं गौतम ! मा प्रमादी. ॥१५॥

अन्वयार्थ.—(गोयम !) हे गौतम ! (एवं) इस प्रकार (भवससारे) जन्म-मरण रूप संसार मे (पमायबहुलो) अति प्रमाद वाला (जीवो) जीव (सुहासुहेहिं) शुम-अशुभ (कम्मेहिं) कर्मों के कारण से (ससरइ) भ्रमण करता रहता है। अतः (समय) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! इस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय एव पचेन्द्रिय वाली तिर्यंच योनियो मे एवं देव तथा नरक मे सख्यात, असख्यात और अनत काल तक अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण यह जीव भटकता फिरता है। इसी से कहा गया है कि इस आत्मा को मनुष्य भव मिलना महान् कठिन है। इसलिए मानव-देह-धारी हे गौतम ! अपनी आत्मा को उत्तम अवस्था मे पहुँचाने के लिए समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

मूल·—लद्धूण वि माणुसत्तणं,
आरिअत्त पुणरावि दुल्लह।
वहवे दसुआ मिलक्खुआ,
समय गोयम ! मा पमायए ॥१६॥

छाया—लब्ध्वाऽपि मानुपत्व, आर्यत्व पुनरपि दुर्लभम्।
वहवो दस्यवो म्लेच्छा, समय गौतम ! मा प्रमादीः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(गोयम !) हे गौतम ! (माणुसत्तण) मनुष्यत्व (लद्धूण वि) प्राप्त हो जाने पर भी (पुणरावि) फिर (आरिअत्त) आर्यत्व का मिलना (दुल्लह) दुर्लभ है। क्योकि (वहवे) वहुतो को यदि मनुष्य भव मिल भी गया तो वे (दसुआ) चोर और (मिलक्खुआ) म्लेच्छ हो गये अत (समय) समय मात्र का भी (पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ—हे गौतम ! यदि इस जीव को मनुष्य जन्म मिल भी गया तो आर्य होने का सौभाग्य प्राप्त होना महान् दुर्लभ है। क्योकि वहुत से नाम मात्र

के मनुष्य अनार्य क्षेत्रो मे रहकर चोरी वगैरह करके अपना जीवन बिताते है। ऐसे नाम मात्र के मनुष्यो की कोटि मे और म्लेच्छ जाति मे जहाँ कि घोर हिसा के कारण जीव कभी ऊँचा नही उठता ऐसी जाति और देश मे जीव ने मनुष्य देह पा भी ली तो किस काम की ? इसलिए आर्य देश मे जन्म लेने वाले और कर्मों से आर्य हे गौतम ! एक पल भर का भी प्रमाद मत कर।

मूल —लद्धूण वि आरियत्तण,
अहीणपचिंदियया हु दुल्लहा।
विगलिंदियया हु दीसई,
समय गोयम ! मा पमायए ॥१७॥

छायाः—लब्ध्वाऽप्यार्यत्व, अहीनपञ्चेन्द्रियता हि दुर्लभा।
विकलेन्द्रियता हि दृश्यते, समय गौतम ! मा प्रमादी ॥१७॥

अन्वयार्थ —(गोयम !) हे गौतम ! (आरियत्तण) आर्यत्व के (लद्धूण वि) प्राप्त होने पर भी (हु) पुन (अहीणपचिंदियया) अहीन पचेन्द्रियपन मिलना (दुल्लहा) दुर्लभ है (हु) क्योकि अधिकतर (विगलिंदियया) विकलेन्द्रिय वाले (दीसई) दीख पडते हैं। अत (समय) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ.—हे गौतम ! मानव-देह आर्य देश मे भी पा गया परन्तु सम्पूर्ण इन्द्रियो की शक्ति सहित मानव देह मिलना महान् कठिन है। क्योकि बहुत से ऐसे मनुष्य देखने मे आते हैं कि जिनकी इन्द्रियाँ विकल हैं। जो कानो से बधिर हैं। जो आँखो से अन्धे या पैरो से अपग हैं। इसलिए सशक्त इन्द्रियों वाले हे गौतम ! चौदहवाँ गुणस्थान प्राप्त करने मे कभी आलस्य मत कर।

मूल.—अहीणपचिंदियत्त पि से लहे,
उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८॥

छाया:—अहीनपञ्चेन्द्रियत्वमपि स लभते, उत्तमधर्मश्रुतिर्हि दुर्लभा।
कुतीर्थिनिषेवको जनो, समय गौतम ! मा प्रमादी ॥१८॥

अन्वयार्थः—(गोयम) हे गौतम ! (अहीणपचिंदियत्त पि) पांचो इन्द्रियो की सम्पूर्णता भी (से) वह जीव (लहे) प्राप्त करे तदपि (उत्तमधम्मसुई) यथार्थ धर्म का श्रवण होना (दुल्लहा) दुर्लभ है। (हु) निश्चय करके, क्योकि (जणे) वहुत से मनुष्य (कुतित्थिनिसेवए) कुतीर्थी की उपासना करने वाले है। अत. (समय) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! पांचो इन्द्रियो की सम्पूर्णता वाले को आर्य देश मे मनुष्य जन्म भी मिल गया तो अच्छे शास्त्र का श्रवण मिलना और भी कठिन है। क्योकि वहुत से मनुष्य जो इहलौकिक सुखो को ही धर्म का रूप देने वाले हैं कुतीर्थी रूप है। नाम मात्र के गुरु कहलाते हैं। उनकी उपासना करने वाले है। इसलिए उत्तम शास्त्र श्रोता हे गौतम ! कर्मों का नाश करने मे तनिक भी ढील मत कर।

मूलः—लद्धूणवि उत्तम सुइ, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥

छाया:—लब्ध्वाऽपि उत्तमां श्रुतिं, श्रद्धान पुनरपि दुर्लभम्।
मिथ्यात्वनिषेवको जनो, समय गौतम ! मा प्रमादीः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(गोयम) हे गौतम ! (उत्तम) प्रधान शास्त्र (सुइ) श्रवण (लद्धूण वि) मिलने पर भी (पुणरावि) पुन (सद्दहणा) उस पर श्रद्धा होना (दुल्लहा) दुर्लभ है। क्योकि (जणे) वहुत से मनुष्य (मिच्छत्तनिसेवए) मिथ्यात्व का सेवन करते है। अत (समय) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ—हे गौतम ! सच्छास्त्र का श्रवण भी हो जाय तो भी उस पर श्रद्धा होना महान् कठिन है। क्योकि वहुत से ऐसे भी मनुष्य हैं जो सच्छास्त्र श्रवण करके भी मिथ्यात्व का वडे ही जोरो के साथ सेवन करते हैं। अतः हे श्रद्धावान् गौतम ! सिद्धावस्था को प्राप्त करने मे आलस्य मत कर।

मूलः—धम्म पि हु सद्दहतया,
दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहि मुच्छिया,
समय गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

छाया:—धर्ममपि हि श्रद्धत, दुर्लभका कायेन स्पर्शका ।
इह कामगुणैर्मूच्छिता, समय गौतम ! मा प्रमादी: ॥२०॥

अन्वयार्थ—(गोयम) हे गौतम ! (धम्म पि) धर्म को भी (सद्दहतया) श्रद्धते हुए (काएण) काया करके (फासया) स्पर्श करना (दुल्लहया) दुर्लभ है (हु) क्योकि (इह) इस ससार मे बहुत से जन (कामगुणेहि) भोगादि के विषयो से (मुच्छिया) मूच्छित हो रहे हैं अत (समय) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ—हे गौतम ! प्रधान धर्म पर श्रद्धा होने पर भी उसके अनुसार चलना और भी कठिन है। धर्म को सत्य कहने वाले वाचाल तो बहुत लोग मिलेंगे पर उसके अनुसार अपना जीवन विताने वाले बहुत ही थोडे देखे जावेंगे। क्योकि इस ससार के काम-भोगो से मोहित होकर अनेको प्राणी अपना अमूल्य समय अपने हाथो खो रहे हैं। इसलिए श्रद्धापूर्वक क्रिया करने वाले हे गौतम ! कर्मों का नाश करने मे एक क्षणमात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूल.—परिजूरइ ते सरीरय, केसा पडुरया हवति ते ।
से सोयवले य हायई, समय गोयम ! मा पमायए ॥२१॥

छाया—परिजीर्यति ते शरीरक, केशा पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तत् श्रोत्रवल च हीयते, समय गौतम ! मा प्रमादी ॥२१॥

अन्वयार्थ.—(गोयम) हे गौतम ! (ते) तेरा (सरीरय) शरीर (परिजूरइ) जीर्ण होता जा रहा है। (ते) तेरे (केसा) वाल (पडुरया) सफेद (हवति) होते जा रहे है। (य) और (से) वह शक्ति जो पहले थी (सोयवले) श्रोत्रेन्द्रिय की

शक्ति अथवा "सव्वबले" कान, नाक, आँख, जिह्वा आदि की शक्ति (हायई) हीन होती जा रही है। अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ—हे गौतम ! आये दिन तेरी वृद्धावस्था निकट आती जा रही है। बाल सफेद होते जा रहे है। और कान, नाक, आंख, जीभ, शरीर, हाथ, पैर आदि की शक्ति भी पहले की अपेक्षा न्यून होती जा रही है। अत' हे गौतम ! समय को अमूल्य समझ कर धर्म का पालन करने मे क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

मूल.—अरई गड विसूइया,
आयका विविहा फुसति ते।
विहडइ विद्धसइ ते सरीरय,
समय गोयम ! मा पमायए ॥२२॥

छाया:—अरतिर्गण्ड विसूचिका,
आतका विविधा स्पृशन्ति ते।
विह्नियते विध्वस्यति ते शरीरक,
समयं गौतम ! मा प्रमादी ॥२२॥

अन्वयार्थ—(गोयम !) हे गौतम ! (अरई) चित्त को उद्वेग (गड) गाँठ, गूमडे (विसूइया) दस्त, उल्टी और (विविहा) विविध प्रकार के (आयका) प्राण घातक रोगो को (ते) तेरे जैसे ये बहुत से मानव शरीर (फुसति) स्पर्श करते है (ते सरीरय) तेरे जैसे ये वहुत मानव से शरीर (विहडइ) वल की हीनता से गिरते जा रहे हैं। और (विद्धसइ) अन्त मे मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। अतः (समय) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! यह मानव शरीर उद्वेग, गांठ, गूमडा, वमन, विरेचन और प्राणघातक रोगो का घर है और अन्त मे वलहीन होकर मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है। अत मानव-शरीर को ऐसे रोगो का घर समझ कर हे गौतम ! मुक्ति को पाने मे विलम्ब मत कर।

मूल —वोच्छिद सिणेहमप्पणो,
कुमुय सारइय वा पाणिय ।
से सव्वसिणेह वज्जिए,
समय गोयम ! मा पमायए ॥२३॥

छाया —व्युच्छिन्धि स्नेहमात्मन, कुमुदं शारदमिव पानीयम् ।
तत् सर्वस्नेहवर्जित, समय गौतम ! मा प्रमादी ॥२३॥

अन्वयार्थः —(गोयम !) हे गौतम ! (सारइय) शरद ऋतु के (कुमुय) कुमुद (पाणिय) पानी को (वा) जैसे त्याग देते हैं। ऐसे ही (अप्पणो) तू अपने (सिणेह) स्नेह को (वोच्छिद) दूर कर (से) इसलिये (सव्वसिणेहवज्जिए) सर्व प्रकार के स्नेह को त्यागता हुआ (समय) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः—हे गौतम ! शरद ऋतु का चन्द्र विकासी कमल जैसे पानी को अपने से पृथक् कर देता है। उसी तरह तू अपने मोह को दूर करने मे समय मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

मूलः—चिच्चाण धण च भारिय,
पव्वइओ हि सि अणगारिय ।
मा वत पुणो वि आविए,
समय गोयम ! मा पमायए ॥२४॥

छाया —त्यक्त्वा धन च भार्यां, प्रव्रजितो ह्यस्य नगारताम् ।
मा वान्त पुनरप्यापिवे, समय गौतम ! मा प्रमादी ॥२४॥

अन्वयार्थ —(गोयम !) हे गौतम ! (हि) यदि तूने (धण) धन (च) और (भारिय) भार्या को (चिच्चाण) छोडकर (अणगारिय) साधुपन को (पव्वइओ सि) प्राप्त कर लिया है। अत (वत) वमन किये हुए को (पुणो वि) फिर भी (मा) मत (आविए) पी, प्रत्युत त्याग वृत्ति को निश्चल रखने मे (समय) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थ—हे गौतम ! तूने धन और स्त्री को त्याग कर साधु वृत्ति को धारण करने की मन मे इच्छा करली है। तो उन त्यागे हुए विषैले पदार्थों का पुनः सेवन करने की इच्छा मत कर। प्रत्युत त्याग वृत्ति को दृढ करने मे एक समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

मूल.—न हु जिणे अज्ज दिसई,
बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
सपइ नेयाउए पहे,
समय गोयम ! मा पमायए ॥२५॥

छाया:—न खलु जिनोऽद्य दृश्यते, बहुमतो दृश्यते मार्गदेशक।
सम्प्रति नैयायिके पथि, समय गौतम ! मा प्रमादी ॥२५॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (अज्ज) आज (हु) निश्चय करके (जिणे) तीर्थंकर (न) नही (दिसई) दिखते है, किन्तु (मग्गदेसिए) मार्गदर्शक और (बहुमए) बहुतो का माननीय मोक्षमार्ग (दिस्सई) दिखता है। ऐसा कहकर पंचम काल के लोग धर्मध्यान करेंगे। तो भला (सपइ) वर्तमान् मे मेरे मौजूद होते हुए (नेयाउए) नैयायिक (पहे) मार्ग मे (समय) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ—हे गौतम ! पचम काल मे लोग कहेगे कि आज तीर्थंकर तो हैं नही, पर तीर्थंकर प्ररूपित मार्गदर्शक और अनेको के द्वारा माननीय यह मोक्षमार्ग है, ऐसा वे सम्यक् प्रकार से समझते हुए धर्म की आराधना करने मे प्रमाद नही करेंगे। तो मेरे मौजूद रहते हुए न्याय पथ से साध्य स्थान पर पहुँचने के लिए हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूलः—अवसोहियकंटगापहं,
ओइण्णो सि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहिया,
समय गोयम ! मा पमायए ॥२६॥

छाया:—अवशोध्य कण्टकपथ, अवतीर्णोऽसि पन्थानं महालय ।
गच्छसि मार्गं विशोध्य, समय गौतम ! मा प्रमादी ॥२६॥

अन्वयार्थ —(गोयम !) हे गौतम ! (कटगापह) कटक सहित पथ को (अवसोहिया) छोड कर (महालय) विशाल मार्ग को (ओइण्णोसि) प्राप्त होता हुआ, उसी (विसोहिया) विशेष प्रकार से शोधित (मग्ग) मार्ग को (गच्छसि) जाता है। अत इसी मार्ग को तय करने मे (समय) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ —हे गौतम ! सकुचित अतथ्य पथ को छोड कर जो तूने विशाल तथ्य मार्ग को प्राप्त कर लिया है। और उसके अनुसार तू उसी विशाल मार्ग का पथिक भी बन चुका है। अत इसी मार्ग से अपने निजी स्थान पर पहुँचने के लिये हे गौतम ! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूलः—अबले जह भारवाहए,
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए,
समय गोयम ! मा पमायए ॥२७॥

छाया —अबलो यथा भारवाहक, मा मार्गं विपममवगाह्य।
पश्चात्पश्चादनुताप्यते, समय गौतम ! मा प्रमादी. ॥२७॥

अन्वयार्थ —(गोयम !) हे गौतम ! (जह) जैसे (अबले) बलरहित (भारवाहए) बोझा ढोने वाला मनुष्य (विसमे) विषम (मग्गे) मार्ग मे (अवगाहिया) प्रवेश हो कर (पच्छा) फिर (पच्छाणुतावए) पश्चाताप करता है। (मा) ऐसा मत बन। परन्तु जो सरल मार्ग मिला है उसको तय करने मे (समय) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ —हे गौतम ! जैसे एक दुर्बल आदमी बोझा उठा कर विकट मार्ग मे चले जाने पर महान् पश्चात्ताप करता है। ऐसे ही जो नर अल्पज्ञो के द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तो को ग्रहण कर कुपथ के पथिक होंगे, वे चौरासी की चक्र-फेरी मे जा पडेंगे और वहाँ वे महान् कष्ट उठावेंगे। अतः पश्चात्ताप करने का मौका न आवे ऐसा कार्य करने मे हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

मूल.—तिण्णो हु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२८॥

छायाः—तीर्णः खल्वस्यर्णव महान्तं, किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागतः।
अभित्वरस्व पार गन्तु, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२८॥

अन्वयार्थ —(गोयम !) हे गौतम ! (मह) बडा (अण्णव) समुद्र (तिण्णो हु सि) मानो तू पार कर गया (पुण) फिर (तीरमागओ) किनारे पर आया हुआ (किं) क्यो (चिट्ठसि) रुक रहा है। अत. (पार) परले पार (गमितए) जाने के लिए (अभितुर) शीघ्रता कर, ऐसा करने मे (समय) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! अपने आप को ससार रूप महान् समुद्र के पार गया हुआ समझ कर फिर उस किनारे पर ही क्यो रुक रहा है ? परले पार होने के लिए अर्थात् मुक्ति मे जाने के लिए शीघ्रता कर। ऐसा करने मे हे गौतम ! तू क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

मूलः—अकलेवरसेणिमूसिया,
सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि।
खेवं च सिव अणुत्तर,
समय गोयम ! मा पमायए ॥२९॥

छाया.—अकलेवर श्रेणिमुच्छ्रित्य,
सिद्धिं गौतम ! लोकं गच्छसि।
क्षेम च शिवमनुत्तर,
समय गौतम ! मा प्रमादी ॥२९॥

अन्वयार्थ—(गोयम !) हे गौतम ! (अकलेवरसेणि) कलेवर रहित होने मे सहायक भूत श्रेणी को (ऊसिआ) बढा कर अर्थात् प्राप्त कर (खेम) पर चक्र का भय रहित (च) और (सिव) उपद्रव रहित (अणुत्तर) प्रधान (सिद्धि) सिद्ध (लोय) लोक को (गच्छसि) जाना ही है, फिर (समय) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थ—हे गौतम ! सिद्ध पद पाने मे जो शुभ अध्यवसाय रूप क्षपक श्रेणि सहायभूत है, उसे पाकर एव उत्तरोत्तर उसे बढाकर, भय एव उपद्रव रहित अटल सुखो का जो स्थान है, वही तुझे जाना है। अत हे गौतम ! धर्म आराधना करने मे पल मात्र की भी ढील मत कर ।

इस प्रकार निर्ग्रन्थ की ये सम्पूर्ण शिक्षाएँ प्रत्येक मानव देह-धारी को अपने लिए भी समझनी चाहिए और धर्म की आराधना करने मे पल भर का भी प्रमाद कभी न करना चाहिए ।

॥ इति दशमोऽध्याय ॥

॥ ॐ ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय ग्यारहवाँ)

भाषा-स्वरूप

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूल —जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा ।
जा य बुद्धेहिऽणाइण्णा, न त भासिज्ज पन्नव ॥१॥

छाया:—या च सत्याऽवक्तव्या, सत्यामृषा च या मृषा ।
या च बुद्धैरनाचीर्णा, न ता भाषेत प्रज्ञावान् ॥१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जा) जो (सच्चा) सत्य भाषा है, तदपि वह (अवत्तव्वा) नही बोलने योग्य (य) और (जा) जो (सच्चामोसा) कुछ सत्य कुछ असत्य ऐसी मिश्रित भाषा (य) और (मुसा) झूंठ, इस प्रकार (जा) जो भाषाएँ (बुद्धेहि) तीर्थंकरो द्वारा (अणाइण्णा) अनाचीर्ण हैं (त) उन भाषाओ को (पन्नव) प्रज्ञावान् पुरुष (न भासिज्ज) कभी नही बोलते ।

भावार्थः—हे गौतम ! सत्य भाषा होते हुए भी यदि सावद्य है तो वह बोलने के योग्य नही है, और कुछ सत्य कुछ असत्य ऐसी मिश्रित भाषा तथा बिलकुल असत्य ऐसी जो भाषाएँ हैं जिनका कि तीर्थंकरो ने प्रयोग नहीं किया और बोलने के लिए निषेध किया है, ऐसी भाषा बुद्धिमान् मनुष्य को कभी नही बोलनी चाहिये ।

मूल —असच्चमोसं सच्च च, अणवज्जमकक्कसं ।
समुप्पेहमसदिद्ध, गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥२॥

छाया—असत्यामृषा सत्या च, अनवद्यामकर्कशाम् ।
समुत्प्रेक्ष्याऽसंदिग्धां गिरं भाषेत प्रज्ञावान् ॥२॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (असच्चमोसं) व्यावहारिक भाषा (च) और (अणवज्ज) वध्य रहित (अकक्कस) कर्कशता रहित (असदिद्ध) संदेहरहित (समुप्पेह) विचार कर ऐसी (सच्च) सत्य (गिर) भाषा (पन्नव) बुद्धिमान् (भासिज्ज) बोले ।

भावार्थ—हे गौतम ! सत्य भी नही, असत्य भी नही ऐसी व्यावहारिक भाषा जैसे वह गाँव आ रहा है आदि और किसी को कष्ट न पहुँचे वैसी एव कर्णप्रिय तथा संदेहरहित ऐसी भाषा को भी बुद्धिमान् पुरुष समयानुसार विचार कर बोलते हैं ।

मूल—तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥३॥

छाया—तथैव परुषा भाषा, गुरु भूतोपघातिनी ।
सत्याऽपि सा न वक्तव्या, मत पापस्यागम ॥३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (तहेव) इसी प्रकार (फरुसा) कठोर (गुरुभूओवघाइणी) अनेको प्राणियो का नाश करने वाली (सच्चा वि) सत्य है तो भी (जओ) जिससे (पावस्स) पाप का (आगमो) आगमन होता है (सा) वह भाषा (वत्तव्वा) बोलने योग्य (न) नही है ।

भावार्थः—हे गौतम ! जो मनुष्य कहलाते हैं उनके लिए कठोर एव जिससे अनेको प्राणियो की हिंसा हो, ऐसी सत्य भाषा भी बोलने योग्य नही होती है। यद्यपि वह सत्य भाषा है, तदपि वह हिंसाकारी भाषा है, उसके बोलने से पाप का आगमन होता है, जिससे आत्मा भारवान् बनती है ।

मूल—तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा ।
वाहिअं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥४॥

छाया:—तथैव काणं काण इति,
पण्डक पण्डक इति वा ।
व्याधिमन्त वाऽपि रोगीति,
स्तेन चौर इति न वदेत् ।।४।।

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (तहेव) वैसे ही (काण) काने को (काणे) काना है (त्ति) ऐसा (वा) अथवा (पडग) नपुसक को (पडगे) नपुसक है (त्ति) ऐसा (वा) अथवा (वाहिअ) व्याधिवाले को (रोगि) रोगी है (त्ति) ऐसा और (तेण) चोर को (चोरे) चोर है (त्ति) ऐसा (नो) नही (वए) बोलना चाहिए ।

भावार्थ—हे गौतम ! जो मनुष्य कहलाते हैं वे काने को काना, नपु सक को नपु सक, व्याधि वाले को रोगी और चोर को चोर ऐसा कभी नही बोलते है । क्योकि वैसा बोलने मे भाषा भले ही सत्य हो, पर ऐसा बोलने से उनका दिल दुखता है । इसीलिए यह असत्य भाषा है, और इसे कभी न बोलना चाहिए ।

मूल—देवाणं मणुयाण च, तिरियाणं च वुग्गहे ।
अमुगाणं जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए ।।५।।

छाया:—देवानां मनुजाना च, तिरश्चा च विग्रहे ।
अमुकानां जयो भवतु, मा वा भवत्विति नो वदेत् ।।५।।

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (देवाण) देवताओ के (च) और (मणुयाण) मनुष्यो के (च) और (तिरियाण) तिर्यंचो के (वुग्गहे) युद्ध मे (अमुगाण) अमुक की (जओ) जय (होउ) हो (वा) अथवा अमुक की (मा) मत (होउ) हो (त्ति) ऐसा (नो) नही (वए) बोलना चाहिए ।

भावार्थ—हे गौतम ! देवता, मनुष्य और तिर्यंचो मे जो परस्पर युद्ध हो रहा हो उसमे भी अमुक की जय हो अथवा अमुक की पराजय हो, ऐसा कभी नही बोलना चाहिए । क्योकि एक की जय और दूसरे की पराजय बोलने से एक प्रसन्न होता है और दूसरा नाराज होता है । और जो बुद्धिमान् मनुष्य, ज्ञानीजन होते हैं वे किसी को दु खी नही करते है ।

मूल·—तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघाइणी ।
से कोह लोह भयसा व माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥६॥

छाया —तथैव सावद्यानुमोदिनी गिरा,
अवधारिणी या च परोपघातिनी ।
ता क्रोधलोभभयहास्येभ्यो मानव.,
न हसन्नपि गिर वदेत् ॥६॥

अन्वयार्थ·—हे इन्द्रभूति ! (माणवो) मनुष्य (हासमाणो) हँसता हुआ (वि) भी (गिर) भाषा को (न) न (वएज्जा) बोले (य) और (तहेव) वैसे ही (से) वह (कोह) क्रोध से (लोह) लोभ से (भयसा) भय से (सावज्जणुमोयणी) सावद्य अनुमोदन के साथ (ओहारिणी) निश्चित और (परोवघाइणी) दूसरे जीवो की हिंसा करने वाली, ऐसी (जा) जो (गिरा) भाषा है, उसको न बोले ।

भावार्थः—हे गौतम ! बुद्धिमान् मनुष्य वह है जो हड-हड हँसता हुआ भी कभी नही बोलता है और इसी तरह सावद्य भाषा का अनुमोदन करके तथा निश्चयकारी और दूसरे जीवो को दु ख देने वाली भाषा कभी नही बोलता है ।

मूल —अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्स अतरा ।
पिट्ठिमंस न खाएज्जा, मायामोस विवज्जए ॥७॥

छाया·—अपृष्ठो न भाषेत्, भापमाणस्यान्तरा ।
पृष्ठमास न खादेत्, मायामृषा विवर्जयेत् ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! बुद्धिमान मनुष्यो को (भासमाणस्स) बोलते हुए के (अन्तरा) बीच मे (अपुच्छिओ) नही पूछने पर (न) नहीं (भासिज्ज) बोलना चाहिए और (पिट्ठिमस) चुगली भी (न) नहीं (खाएज्जा) खानी चाहिए एव (मायामोस) कपटयुक्त असत्य बोलना (विवज्जए) छोड़ना चाहिए ।

भावार्थः—हे गौतम ! बुद्धिमान् वह है, जो दूसरे बोल रहे हो उनके बीच मे उनके पूछे बिना न बोले और जो उनके परोक्ष मे उनके अवगुणो को भी कभी न बोलता हो, तथा जिसने कपटयुक्त असत्य भाषा को भी सदा के लिए छोड़ रक्खा हो।

मूलः—सक्का सहेउं आसाइ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए,
वइमए कण्णसरे स पुज्जो ॥८॥

छाया—शक्याः सोढुमाशयाकण्टकाः,
अयोमया उत्साहमानेन नरेण।
अनाशया यस्तु स हेत कण्टकान्,
वाङ्मयान् कर्णशरान् स पूज्यः ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (उच्छहया) उत्साही (नरेणं) मनुष्य (आसाइ) आशा से (अओमया) लोहमय (कटया) कटक या तीर (सहेउं) सहने को (सक्का) समर्थ है। परन्तु (कण्णसरे) कान के छिद्रो मे प्रवेश करने वाले (कटए) काँटे के समान (वइमए) वचनो को (अणासए) बिना आशा से (जो) जो (सहेज्ज) सहन करता है (स) वह (पुज्जो) श्रेष्ठ है।

भावार्थः—हे गौतम ! उत्साहपूर्वक मनुष्य अर्थ-प्राप्ति की आशा से लोह खण्ड के तीर और काँटो तक की पीडा को खुशी-खुशी सहन कर जाते है। परन्तु उन्हे वचन रूपी कण्टक सहन होना बडा ही कठिन मालूम होता है। तो फिर आशा रहित होकर कठिन वचन सुनना तो बहुत ही दुष्कर है। परन्तु बिना किसी भी प्रकार की आशा के, कानो के छिद्रो द्वारा कण्टक के समान वचनो को सुन कर जो सह लेता है, बस उसी को श्रेष्ठ मनुष्य समझना चाहिए।

मूलः—मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबधीणि महब्भयाणि ॥९॥

छायाः—मुहूर्त्त दु खास्तु भवन्ति कण्टका,
अयोमयास्तेऽपि ततः सूद्धरा ।
वाचा दुरुक्तानि दुरुद्धराणि,
वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अओमया) लोह निर्मित (कटया) कांटो से (उ) तो (मुहुत्तदुक्खा) मुहूर्त्त मात्र दुख (हवति) होता है (ते वि) वह भी (तओ) उस शरीर से (सुउद्धरा) सुखपूर्वक निकल सकता है । परन्तु (वेराणुबधीणि) वैर को बढाने वाले और (महब्भयाणि) महाभय को उत्पन्न करने वाले (वायादुरुत्ताणि) कहे हुए कठिन वचनो का (दुरुद्धराणि) हृदय से निकलना मुश्किल है ।

भावार्थ —हे गौतम ! लोह निर्मित कण्टक-तीर से तो कुछ समय तक ही दु ख होता है, और वह भी शरीर से अच्छी तरह निकाला जा सकता है । किन्तु कहे हुए तीक्ष्ण मार्मिक वचन वैर को बढाते हुए नरकादि दु खो को प्राप्त कराते है । और जीवन पर्यन्त उन कटु वचनो का हृदय से निकलना महान् कठिन है ।

मूलः—अवण्णवाय च परमुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीय च भास ।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भास न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥१०॥

छाया.—अवर्णवाद च पाराङ्मुखस्य,
प्रत्यक्षत प्रत्यनीका च भाषाम् ।
अवधारिणीमप्रियकारिणी च,
भाषा न भाषेत् सदा स पूज्य ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (परमुहस्स) उस मनुष्य के बिना मौजूदगी में (च) और (पच्चक्खओ) उसके प्रत्यक्ष रूप मे (अवण्णवाय) अवर्णवाद (भास)

भावार्थः—हे गौतम ! बुद्धिमान् वह है, जो दूसरे बोल रहे हो उनके बीच मे उनके पूछे बिना न बोले और जो उनके परोक्ष मे उनके अवगुणो को भी कभी न बोलता हो, तथा जिसने कपटयुक्त असत्य भाषा को भी सदा के लिए छोड रक्खा हो।

मूलः—सक्का सहेउं आसाइ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए,
वइमए कण्णसरे स पुज्जो ॥८॥

छाया—शक्याः सोढुमाशयाकण्टकाः,
अयोमया उत्साहमानेन नरेण।
अनाशया यस्तु स हेत कण्टकान्,
वाङ्मयान् कर्णशरान् सः पूज्यः ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (उच्छहया) उत्साही (नरेणं) मनुष्य (आसाइ) आशा से (अओमया) लोहमय (कटया) कटक या तीर (सहेउं) सहने को (सक्का) समर्थ है। परन्तु (कण्णसरे) कान के छिद्रो मे प्रवेश करने वाले (कटए) काँटे के समान (वइमए) वचनो को (अणासए) बिना आशा से (जो) जो (सहेज्ज) सहन करता है (स) वह (पुज्जो) श्रेष्ठ है।

भावार्थः—हे गौतम ! उत्साहपूर्वक मनुष्य अर्थ-प्राप्ति की आशा से लोह खण्ड के तीर और काँटो तक की पीडा को खुशी-खुशी सहन कर जाते है। परन्तु उन्हे वचन रूपी कण्टक सहन होना बडा ही कठिन मालूम होता है। तो फिर आशा रहित होकर कठिन वचन सुनना तो बहुत ही दुष्कर है। परन्तु बिना किसी भी प्रकार की आशा के, कानो के छिद्रो द्वारा कण्टक के समान वचनों को सुन कर जो सह लेता है, बस उसी को श्रेष्ठ मनुष्य समझना चाहिए।

मूल.—मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबधीणि महब्भयाणि ॥९॥

छायाः—मुहूर्त्तं दुःखास्तु भवन्ति कण्टका,
अयोमयास्तेऽपि ततः सूद्धरा ।
वाचा दुरुक्तानि दुरुद्धराणि,
वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अओमया) लोह निर्मित (कटया) कांटो से (उ) तो (मुहुत्तदुक्खा) मुहूर्त्त मात्र दुःख (हवति) होता है (ते वि) वह भी (तओ) उस शरीर से (सुउद्धरा) सुखपूर्वक निकल सकता है । परन्तु (वेराणुबंधीणि) वैर को बढाने वाले और (महब्भयाणि) महाभय को उत्पन्न करने वाले (वायादुरुत्ताणि) कहे हुए कठिन वचनो का (दुरुद्धराणि) हृदय से निकलना मुश्किल है ।

भावार्थः—हे गौतम ! लोह निर्मित कण्टक-तीर से तो कुछ समय तक ही दुःख होता है, और वह भी शरीर से अच्छी तरह निकाला जा सकता है । किन्तु कहे हुए तीक्ष्ण मार्मिक वचन वैर को बढ़ाते हुए नरकादि दुःखो को प्राप्त कराते हैं । और जीवन पर्यन्त उन कटु वचनो का हृदय से निकलना महान् कठिन है ।

मूलः—अवण्णवायं च परम्मुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं ।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥१०॥

छाया—अवर्णवादं च पराङ्मुखस्य,
प्रत्यक्षतः प्रत्यनीकां च भाषाम् ।
अवधारिणीमप्रियकारिणीं च,
भाषां न भाषेत् सदा स पूज्यः ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (परम्मुहस्स) उस मनुष्य के बिना मौजूदगी में (च) और (पच्चक्खओ) उसके प्रत्यक्ष रूप मे (अवण्णवायं) अवर्णवाद (भासं)

भाषा को (सया) हमेशा (न) नही (भासेज्ज) बोलना चाहिए (च) और (पडिणीय) अपकारी (उहारिणि) निश्चयकारी (अप्पियकारिणि) अप्रियकारी (भास) भाषा को भी हमेशा जो नही बोलता हो (स) वह (पुज्जो) पूजनीय मानव है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो प्रत्यक्ष या परोक्ष मे अवगुणवाद के वचन कभी भी नही बोलता हो। जैसे तू चोर है। पुरुषार्थी पुरुष को कहना कि तू नपुसक है। ऐसी भाषा तथा अप्रियकारी, अपकारी, निश्चयकारी भाषा जो कभी नही बोलता हो, वह पूजनीय मानव है।

मूल—जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जइ ॥११॥

छाया—यथा शुनी पूतिकर्णी, निःकास्यते सर्वतः।
एव दुःशीलः प्रत्यनीकः, मुखारिर्निःकास्यते ॥११॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जाह) जैसे (पूइकण्णी) सडे कान वाली (सुणी) कुत्तिया को (सव्वसो) सब जगह से (निक्कसिज्जइ) निकालते हैं। (एव) इसी प्रकार (दुस्सील) खराब आचरण वाले (पडिणीए) गुरु और धर्म से द्वेष करने वाले और (मुहरी) अट सट बडबडाने वाले को (निक्कसिज्जइ) कुल मे से बाहर निकाल देते है।

भावार्थ—हे गौतम ! सडे कान वाली कुतिया को सब जगह धुत्कार मिलता है और वह हर जगह से निकाली जाती है। इसी तरह दुराचारियो एव धर्म से द्वेष करने वालो और मुंह से कटुवचन बोलने वालो को सब जगह से धुत्कारा मिलता है। और वहाँ से निकाल दिया जाता है।

मूल—कणकुण्डग चइत्ताण, विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सील चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥१२॥

छाया—कणकुण्डकं त्यक्त्वा, विष्टां भुङ्क्ते शूकरः।
एव शीलं त्यक्त्वा दुःशील रमते मृगः ॥१२॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! जैसे (सूयरे) शूकर (कणकुटग) धान के कूंडे को (चइत्ताण) छोड कर (विट्ठ) विष्टा ही को (भुजइ) खाता है, (एव) इसी तरह (मिए) पशु के समान मूर्ख मनुष्य (सील) अच्छी प्रवृत्ति को (चइत्ताण) छोड कर (दुस्सीले) खराब प्रवृत्ति ही मे (रमई) आनद मानता है।

भावार्थ—हे गौतम ! जिस प्रकार सुअर धान्य के भोजन को छोड कर विष्टा ही खाता है, इसी तरह मूर्ख मनुष्य सदाचार-सेवन और मधुर भापण आदि अच्छी प्रवृत्ति को छोड कर दुराचार-सेवन करने तथा कटुभापण करने ही मे आनद मानता रहता है, परन्तु उस मूर्ख मनुष्य को इस प्रवृत्ति से अन्त मे बडा पश्चात्ताप करना पडता है।

मूलः—आहच्च चडालिय कट्टु,
न निण्हविज्ज कयाइ वि।
कड कडेत्ति भासेज्जा,
अकड णो कडेत्ति य ॥१३॥

छायाः—कदाचिच्च चाण्डालिक कृत्वा,
न निह्नुवीत कदापि च।
कृत कृतमिति भापेत,
अकृत नो कृतमितिच ॥१३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति (आहच्च) कदाचित् (चडालिय) क्रोध से झूठ भापण हो गया हो तो झूठ भापण (कट्टु) करके उसको (कयाइ) कभी (वि) भी (न) न (निण्हविज्ज) छिपाना चाहिए (कड) किया हो तो (कडेत्ति) किया है ऐसा (भासेज्जा) बोलना चाहिए (य) और (अकड) नही किया हो तो (णो) नही (कडेत्ति) किया ऐसा बोलना चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम ! कभी किसी से क्रोध के आवेश मे आकर झूठ भापण हो गया हो तो उसका प्रायश्चित्त करने के लिए उसे कभी भी नहीं छिपाना चाहिए। कटुभापण किया हो तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए कि हाँ मुझसे हो तो गया है। और नहीं किया हो तो ऐसा कह देना चाहिए कि मैंने नहीं किया है।

मूलः—पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा ।
आवी वा जइ वा रहस्से, णेव कुज्जा कयाइ वि ॥१४॥

छाया.—प्रत्यनीक च बुद्धाना, वाचाऽथवा कर्मणा ।
आविर्वा यदि वा रहसि, नैव कुर्यात् कदापि च ॥१४॥

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति ! (बुद्धाण) तत्त्वज्ञ (च) और सभी साधारण मनुष्यो से (पडिणीयं) शत्रुता (वाया) वचन द्वारा और (अदुव) अथवा (कम्मुणा) काया द्वारा (आवीवा) मनुष्यो के देखते कपट रूप मे (जइ वा) अथवा (रहस्से) एकान्त मे (कयाइ वि) कभी भी (णेव) नही (कुज्जा) करना चाहिए ।

भावार्थः—हे गौतम ! क्या तो तत्त्वज्ञ और क्या साधारण सभी मनुष्यो के साथ कटुवचनो से तथा शरीर द्वारा प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप मे कभी भी शत्रुता करना बुद्धिमत्ता नही कही जा सकती ।

मूल.—जणवयसम्मयठवणा, नामे रूवे पडुच्च सच्चे य ।
ववहारभावजोगे, दसमे ओवम्म सच्चे य ॥१५॥

छायाः—जनपद-सम्यक्त्वस्थापना च, नाम रूपं प्रतीत्य सत्य च ।
व्यवहारभावे योगानि दशमौपमिक सत्य च ॥१५॥

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति ! (जणवय) अपने अपने देश की (य) और (सम्मयठवणा) एकमत की, स्थापना की (नामे) नाम की (रूवे) रूप की (पडुच्च सच्चे) अपेक्षा से कही हुई (य) और (ववहार) व्यावहारिक (भाव) भाव ली हुई (जोगे) यौगिक (य) और (दसमे) दशवी (ओवम्म) औपमिक भाषा (सच्चे) सत्य है ।

भावार्थ—हे गौतम ! जिस देश मे जो भाषा बोली जाती हो, जिसमे अनेको का एकमत हो, जैसे पक से और भी वस्तु पैदा होती है, पर कमल ही को पकज कहते हैं जिसमे एकमत है । नापने के गज और तोलने के बांट

वगैरह को जितना लम्बा और जितना वजन मे लोगो ने मिलकर स्थापन कर रक्खा हो। गुण सहित या गुण शून्य जिसका जैसा नाम हो, वैसा उच्चारण करने मे, जिसका जैसा वेष हो उसके अनुसार कहने मे, और अपेक्षा से, जैसे एक की अपेक्षा से पुत्र और दूसरे की अपेक्षा से पिता उच्चारण करने मे जो भाषा का प्रयोग होता है, वह सत्य भाषा है। और ईंधन के जलने पर भी चूल्हा जल रहा है, ऐसा व्यावहारिक उच्चारण एव तोते मे पाँचो वर्णों के होते हुए भी "हरा" ऐसा भावमय वचन और अमुक सेठ क्रोडपति है फिर भले दो चार हजार अधिक हों या कम हो उसको क्रोडपति कहने मे। एव दशवी उपमा मे जिन वाक्यों का उच्चारण होता है, वह सत्य भाषा है। यो दश प्रकार की भाषाओ को ज्ञानी जनो ने सत्य भाषा कहा है।

मूल —कोहे माणे माया, लोभे पेज्ज तहेव दोसे य।
हासे भए अक्खाइय, उवघाए निस्सिया दसमा ॥१६॥

छाया —क्रोध मान माया, लोभ राग तथैव द्वेषञ्च।
हास्य भय आख्यातिक उपघातो निःश्रितो दशमा ॥१६॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति! (कोहे) क्रोध (माणे) मान (माया) कपट (लोभे) लोभ (पेज्ज) राग (तहेव) वैसे ही (दोसे) द्वेष (य) और (हासे) हँसी (य) और (भए) भय और (अक्खाइय) कल्पित व्याख्या (दसमा) दशवी (अवघाए) उपघात के (निस्सिया) आश्रित कही हुई भाषा असत्य है।

भावार्थ —हे गौतम! क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, हास्य और भय से बोली जाने वाली भाषा तथा काल्पनिक व्याख्या और दशवी उपघात (हिंसा) के आश्रित जिस भाषा का प्रयोग किया गया हो, वह असत्य भाषा है। इस प्रकार की भाषा बोलने से आत्मा की अधोगति होती है।

मूल —इणमन्नं तु अन्नाण इहमेगेसिमाहियं।
देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्ते ति आवरे ॥१७॥
ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे।
जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए ॥१८॥

सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ॥१६॥
माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे।
असो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसं वदे ॥२०॥

छाया:—इदमन्यत्त अज्ञान, इहैकैतदाख्यातम्।
देवाप्तोऽय लोक:, ब्रह्मोप्त इत्यपरे ॥१७॥
ईश्वरेण कृतोलोक: प्रधानादिना तथाऽपरे।
जीवाजीवसमायुक्त., सुखदु.खसमन्वित: ॥१८॥
स्वयम्भुवा कृतो लोक: इत्युक्त महर्षिणा।
मारेण संस्तुता माया, तेन लोकोऽशाश्वत: ॥१६॥
माहना: श्रमणा एके, आहुरण्कृत जगत्।
असौ तत्त्वमकार्षीत्, अजानन्त: मृषा वदन्ति ॥२०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (इह) इस ससार मे (मेगेसिं) कई एक (अन्नं) अन्य (अन्नाण) अज्ञानी (इण) इस प्रकार (आहियं) कहते है कि (अय) इस (जीवाजीव समाउत्ते) जीव और अजीव पदार्थ से युक्त (सुहदुक्खसमन्निए) सुख और दुखो से युक्त ऐसा (लोए) लोक (देवउत्ते) देवताओं ने बनाया है (आवरे) और दूसरे यो कहते हैं कि (बमउत्तेति) ब्रह्मा ने बनाया है। कोई कहते हैं कि (लोए) लोक (ईसरेण) ईश्वर ने (कडे) बनाया है (तहावरे) तथा दूसरे यो कहते हैं कि (पहाणाइ) प्रकृति ने बनाया है तथा नियति ने बनाया है। कोई बोलते हैं कि (लोए) लोक (सयमुणा) विष्णु ने (कडे) बनाया है। फिर मार "मृत्यु" बनाई। (मारेण) मृत्यु से (माया) माया (सथुया) पैदा की (तेण) इसी से (लोए) लोक (असासए) अशाश्वत है। (इति) ऐसा (महेसिणा) महर्षियो ने (वुत्त) कहा है। और (एगे) कई एक (माहणा) ब्राह्मण (समणा) सन्यासी (जगे) जगत् (अडकडे) अण्डे से उत्पन्न हुआ ऐसा (आह) कहते हैं। इस प्रकार (असो) ब्रह्मा ने (तत्तमकासी य) तत्त्व बनाया ऐसा कहने वाले (अयाणता) तत्त्व को नही जानते हुए (मुस) झूठ (वदे) कहते हैं।

भावार्थ.—हे गौतम ! इस ससार मे ऐसे भी लोग है, जो कहते है कि जड और चेतन स्वरूप एव सुख-दुख युक्त जो यह लोक है, इसकी इस प्रकार की रचना देवताओ ने की है। कोई कहते है कि ब्रह्मा ने सृष्टि बनाई है। कोई ऐसा भी कहते हैं कि ईश्वर ने जगत् की रचना की है। कोई यो बोलते हैं कि सत्व, रज, तम, गुण की सम अवस्था को प्रकृति कहते हैं। उस प्रकृति ने इस ससार की रचना की है। कोई यो भी मानते हैं कि जिस प्रकार कांटे तीक्ष्ण, मयूर के पख विचित्र रग वाले, गन्ने मे मिठास, लहसुन मे दुर्गन्ध, कमल सुगधमय स्वभाव से ही होते है, ऐसे ही सृष्टि की रचना भी स्वभाव से ही होती है। कोई इस प्रकार कहते हैं कि इस लोक की रचना मे स्वयभू विष्णु अकेले थे। फिर सृष्टि रचने की चिन्ता हुई जिससे शक्ति पैदा हुई। तदनतर सारा ब्रह्माण्ड रचा और इतनी विस्तार वाली सृष्टि की रचना होने पर यह विचार हुआ कि इस का समावेश कहाँ होगा ? इसलिए जन्मे हुओ को मारने के लिए यम बनाया। उसने फिर माया को जन्म दिया। कोई यो कहते हैं कि पहले ब्रह्मा ने अण्डा बनाया। फिर वह फूट गया। जिसके आधे का ऊर्ध्व लोक और आधे का अधोलोक बन गया और उसमे उसी समय समुद्र, नदी, पहाड, गाँव आदि सभी की रचना हो गई। इस तरह सृष्टि बनायी। ऐसा उनका कहना, हे गौतम ! सत्य से पृथक है।

मूल —सएहिं परियाएहिं, लोय बूया कडे त्ति य।
तत्त ते ण विजाणति, ण विणासी कयाइ वि॥२१॥

छाया —स्वकै. प्रयायै लोकमब्रुवन् कृतमिति च।
तत्त्व ते न विजानन्ति, न विनाशी कदापि च॥२१॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! जो (सएहिं) अपनी-अपनी (परियाएहिं) पर्याय कल्पना करके (लोय) लोक को अमुक अमुक ने (कडे त्ति) बनाया है, ऐसा (बूया) बोलते हैं। (ते) वे (तत्त) यथातथ्य तत्त्व को (ण) नही (विजाणंति) जानते हैं। क्योकि लोक (कयाइ वि), कभी भी (विणासी) नाशवान (ण) नहीं है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो लोग यह कहते हैं कि इस सृष्टि को ईश्वर ने, देवताओ ने, ब्रह्मा ने तथा स्वयभू ने बनाया है, उनका यह कहना अपनी अपनी कल्पना मात्र है वास्तव मे यथातथ्य बात को वे जानते ही नही हैं। क्योकि यह लोक सदा अविनाशी है। न तो इस सृष्टि के बनने का आदि ही है और न अन्त ही है। हां, कालानुसार इसमे परिवर्तन होता रहता है परन्तु सम्पूर्ण रूप से सृष्टि का नाश कभी नही होता है।

॥ इति एकादशोऽध्यायः ॥

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय बारहवां)

लेश्या-स्वरूप

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइ तु जहक्कम ॥१॥

छाया—कृष्णा नीला च कापोती च, तेज पद्मा तथैव च ।
शुक्ललेश्या च षष्ठी च, नामानि तु यथाक्रमम् ॥१॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (किण्हा) कृष्ण (य) और (नीला) नील (य) और (काऊ) कापोत (य) और (तेऊ) तेजो (तहेव) तथा (पम्हा) पद्म (य) और (छट्ठा) छठी (सुक्कलेसा) शुक्ल लेश्या (नामाइ) ये नाम (जहक्कमे) यथाक्रम जानो।

भावार्थ—हे आर्य ! पुण्य-पाप करते समय आत्मा के जैसे परिणाम होते हैं उसे यहाँ लेश्या के नाम से पुकारेंगे। वह लेश्या[1] छ भागो मे विभक्त है उनके यथाक्रम से नाम यो हैं—(१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) तेज (५) पद्म और (६) शुक्ल लेश्या। हे गौतम ! कृष्णलेश्या का स्वरूप यो हैं—

---

१ (१) कृष्णलेश्या वाले की भावना यो होती है कि अमुक को मार डालो, काट डालो, सत्यानाश कर दो आदि-आदि। (२) नीललेश्या के परिणाम वे हैं जो कि दूसरे के प्रति, हाथ-पैर तोड डालने के हो (३) कापोतलेश्या भावना उन मनुष्यो की है जो कि नाक, कान, अगुलियाँ आदि को कष्ट पहुंचाने मे तत्पर हो। (४) तेजोलेश्या के भाव वह है जो दूसरे को लात, घूंसा, मुक्की आदि से कष्ट पहुँचाने मे अपनी बुद्धिमत्ता समझता हो। (५) पद्मलेश्या वाले की भावना इस प्रकार होती है कि कठोर शब्दो की बौछार करने मे आनन्द मानता हो। (६) शुक्ललेश्या के परिणाम वाला अपराध करने वाले के प्रति भी मधुर शब्दों का प्रयोग करता है।

मूलः—पंचासवप्पवत्तो, तीहि अगुत्तो छसु अविरओय।
तिव्वारभपरिणओ, खुद्दो साहस्सिओ नरो ॥२॥
निद्धंधसपरिणामो, निस्संसो अजिइंदिओ।
एअजोगसमाउत्तो, किण्हलेसं तु परिणमे ॥३॥

छायाः—पञ्चास्रवप्रवृत्तस्त्रिभिरगुप्त षट्सु अविरतश्च।
तीव्रारम्भ परिणत. क्षुद्रः साहसिको नरः ॥२॥
निध्वसपरिणामः, नृशसोऽजितेन्द्रियः।
एतद्योग समायुक्तः, कृष्णलेश्या तु परिणमेत् ॥३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (पंचासवप्पवत्तो) हिंसादि पाँच आस्रवो मे प्रवृत्ति करने वाला (तीहिं) मन, वच, काय के तीनो योगो को बुरे कामो मे जाते हुए को (अगुत्तो) नही रोकने वाला (य) और (छसु) षट्काय जीवो की हिंसा से (अवरिओ) निवृत्त नही होने वाला (तिव्वारभपरिणओ) तीव्र है आरम्भ करने मे लगा हुआ (खुद्दो) क्षुद्र बुद्धि वाला, (साहस्सिओ) अकार्य करने मे साहसिक (निद्धंधसपरिणामो) नष्ट करने वाले हिताहित के परिणाम को और (निस्ससो) नि शक रूप से पाप करने वाला (अजिइदिओ) इन्द्रियो को न जीतने वाला (एअजोगसमाउत्तो) इस प्रकार के आचरणो से युक्त (नरो) मनुष्य (किण्हलेस) कृष्णलेश्या के (परिणमे) परिणाम वाले होते हैं।

भावार्थ—हे गौतम! जिसकी प्रवृत्ति हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और ममता मे अधिकतर फँसी हुई हो, एव मन द्वारा जो हर एक का बुरा चिंतवन करता हो, जो कटु और मर्मभेदी बोलता हो, जो प्रत्येक के साथ कपट का व्यवहार करने वाला हो, जो बिना प्रयोजन के भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय के जीवो की हिंसा से निवृत्त न हुआ हो, बहुत जीवो की हिंसा हो ऐसे महारम्भ के कार्य करने मे तीव्र भावना रखता हो, हमेशा जिसकी बुद्धि तुच्छ रहती हो, अकार्य करने मे बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के जो प्रवृत्त हो जाता हो, नि सकोच भावो से पापाचरण करने मे जो रत हो, इन्द्रियो को प्रसन्न रखने मे अनेक दुष्कार्य जो करता हो, ऐसे मार्गो मे जिस

किसी भी आत्मा की प्रवृत्ति हो वह आत्मा कृष्णलेश्या वाली है। ऐसी लेश्या वाला फिर चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, मर कर नीची गति मे जावेगा। हे गौतम! नीललेश्या का वर्णन यो है—

मूल —इस्साअमरिस अतवो, अविज्ज माया अहीरिया य।
गेद्धी पओसे य सढे, पमत्ते रसलोलुए ॥४॥
सायगवेसए य आरम्भा अविरओ,
खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एअजोगसमाउत्तो,
नीललेस तु परिणमे ॥५॥

छाया —ईर्ष्याऽमर्षातप, अविद्या मायाऽह्रिकता।
गृद्धि प्रद्वेपश्च शठ, प्रमत्तो रसलोलुप ॥४॥
सातागवेपकश्चारभादविरत क्षुद्र, साहसिको नर।
एतद्योगसमायुक्त, नीललेश्या तु परिणमेत् ॥५॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति! (इस्सा) ईर्ष्या (अमरिस) अत्यन्त क्रोध, (अतवो) अतप (अविज्ज) कुशास्त्र पठन (माया) कपट (अहीरिया) पापाचार के सेवन करने मे निर्लज्ज (गेद्धी) गृद्धपन (य) और (पओसे) द्वेपभाव (सढे) धर्म मे मद स्वभाव (पमत्ते) मदोन्मत्तता (रसलोलुए) रसलोलुपता (सायगवेसए) पौद्गलिक सुख की अन्वेपणा (अ) और (आरम्भा) हिंसादि आरम्भ से (अविरओ) अनिवृत्ति (खुद्दो) क्षुद्र भावना (साहस्सिओ) अकार्य मे साहसिकता (एअजोग-समाउत्तो) इस प्रकार के आचरणो से युक्त (नरो) जो मनुष्य हैं, वे (नीललेस) नीललेश्या को (परिणमे) परिणमित होते हैं।

भावार्थ —हे गौतम! जो दूसरो के गुणो को सहन न करके रात-दिन उनसे ईर्ष्या करने करने वाला हो, बात-बात मे जो क्रोध करता हो। खा-पी कर जो सण्ड-मुसण्ड बना रहता हो, पर कभी भी तपस्या न करता हो, जिनसे अपने जन्म-मरण की वृद्धि हो ऐसे कुशास्त्रों का पठन-पाठन करने वाला हो, कपट करने मे किसी भी प्रकार की कोर कसर न रखता हो, जो भली बात कहने वाले के साथ द्वेष-भाव रखता हो, धर्म कार्य मे शिथिलता दिखाता हो, हिंसादि महारम्भ से तनिक भी अपने मन को न खींचता हो, दूसरो के अनेको

गुणो की तरफ दृष्टिपात तक न करते हुए उसमे जो एकआध अवगुण हो, उसी की ओर निहारने वाला हो, और अकार्य करने मे बहादुरी दिखाने वाला हो, जिस आत्मा का ऐसा व्यवहार हो, उसे नीललेश्यी कहते है। इस तरह की भावना रखने वाला व उसमे प्रवृत्ति करने वाला चाहे कोई पुरुष हो, या स्त्री वह मर अधोगति मे ही जायगा।

मूल—वके वकसमायरे, नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचगओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥६॥
उप्फालग दुट्ठवाई य, तेणे आवि य मच्छरी।
एअजोगसमाउत्तो, काऊलेसं तु परिणमे ॥७॥

छाया—वक्रो वक्रसमाचारः, निकृतिमाननृजुकः।
परिकुंचक औपधिकः, मिथ्यादृष्टिरनार्यः ॥६॥
उत्प्रासक दुष्टवादी च, स्तेनश्चापिचमत्सरी।
एतद्योगसमायुक्तः, कापोतलेश्या तु परिणमेत् ॥७॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (वके) वक्र भाषण करना (वकसमायरे) वक्र क्रिया अगीकार करना, (नियडिल्ले) मन मे कपट रखना, (अनुज्जए) टेढेपन से रहना (पलिउचग) स्वकीय दोषो को ढँकना, (ओवहिए) सब कामो मे कपटता (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यात्व मे अभिरुचि रखना (अणारिए) अनार्य प्रवृत्ति करना (य) और (तेणे) चोरी करना (अविमच्छरी) फिर मात्सर्य रखना (एअजोगसमाउत्तो) इस प्रकार के व्यवहारो मे जो युक्त हो वह (काऊलेस) कापोतलेश्या को (परिणमे) परिणमित होता है।

भावार्थ—हे गौतम ! जो बोलने मे सीधा न बोलता हो, व्यापार भी जिसका टेढा हो दूसरे को न जान पडे ऐसे मानसिक कपट से व्यवहार करता हो, सरलता जिसके दिल को छूकर भी न निकली हो, अपने दोषो को ढँकने की भरपूर चेष्टा जो करता हो, जिसके दिनभर के सारे कार्य छल-कपट से भरे पडे हो, जिसके मन मे मिथ्यात्व की अभिरुचि बनी रहती हो, जो अनार्योचित कामो को भी कर बैठता हो, जो वचन ऐसे बोलता हो कि जिससे प्राणिमात्र को त्रास होता हो, दूसरो की वस्तु को चुराने मे ही अपने मानव जन्म की सफलता समझता हो, मात्सर्य से युक्त हो, इस प्रकार के व्यवहारो मे जिस

आत्मा की प्रवृत्ति हो, वह कापोतलेश्यी कहलाता है। ऐसी भावना रखने वाला चाहे पुरुष हो या स्त्री, वह मर कर अधोगति मे जावेगा। हे गौतम ! तेजोलेश्या के सम्बन्ध मे यो है—

मूलः—नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दन्ते, जोगव उवहाणव ॥८॥
पियधम्मे दढधम्मेऽवज्जभीरू हिएसए।
एयजोगसमाउत्तो, तेऊलेस तु परिणमे ॥९॥

छाया·—नीचवृत्तिरचपल अमाय्यकुतूहल ।
विनीतविनयो दान्त, योगवानुपधानवान् ॥८॥
प्रियधर्मा दृढधर्मा, अवद्यभीरुर्हितैषिक· ।
एतद्योगसमायुक्त, तेजोलेश्या तु परिणमेत् ॥९॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (नीयावित्ती) जिसकी वृत्ति नम्र स्वभाव वाली हो (अचवले) अचपल (अमाई) निष्कपट (अकुऊहले) कुतूहल मे रहित (विणीयविणए) अपने से बडो का विनय करने मे विनीत वृत्ति वाला (दन्ते) इन्द्रियो को दमन करने वाला (जोगव) शुभ योगो को लाने वाला (उवहाणव) शास्त्रीय विधि से तप करने वाला (पियधम्मे) जिसकी धर्म मे प्रीति हो, (दढधम्मे) दृढ है मन धर्म मे जिसका (अवज्जभीरू) पाप से डरने वाला (हिएसए) हित को ढूंढने वाला, मनुष्य (तेऊलेस) तेजोलेश्या को (तु परिणमे) परिणमित होता है।

भावार्थ —हे आर्य ! जिसकी प्रकृति नम्र है, जो स्थिर बुद्धिवाला है, जो निष्कपट है, हँसी-मजाक करने का जिसका स्वभाव नहीं है, बडो का विनय कर जिसने विनीत की उपाधि प्राप्त करली है, जो जितेन्द्रिय है, मानसिक, वाचिक, और कायिक इन तीनो योगो के द्वारा जो कभी किसी का अहित न चाहता हो, शास्त्रीय विधि-विधान युत् तपस्या करने मे दत्तचित्त रहता हो, धर्म मे सदैव प्रेम भाव रखता हो, चाहे उस पर प्राणान्तक कष्ट ही क्यो न आ जावे, पर धर्म मे जो दृढ रहता है, किसी जीव को कष्ट न पहुंचे ऐसी भाषा जो बोलता हो, और हितकारी मोक्ष धाम को जाने के लिए शुद्ध क्रिया करने की गवेषणा जो करता रहता हो, वह तेजोलेश्यी कहलाता है। जो जीव इस प्रकार की

भावना रखता हो वह मर कर ऊर्ध्वगति अर्थात् परलोक मे उत्तम स्थान को प्राप्त होता है। हे गौतम ! पद्मलेश्या का वर्णन यो है:—

मूल:—पयणुक्कोहमाणे य, मायालोभे य पयणुए।
पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥१०॥
तहा पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ॥११॥

छाया—प्रतनुक्रोधमानश्च, मायालोभौ च प्रतनुकौ।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, योगवानुपधानवान् ॥१०॥
तथा प्रतनुवादी च, उपशान्तो जितेन्द्रियः।
एतद्योगसमायुक्तः, पद्मलेश्या तु परिणमेत् ॥११॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (पयणुक्कोहमाणे) पतले हैं क्रोध और मान जिसके (अ) और (मायालोभे) माया तथा लोभ भी जिसके (पयणुए) अल्प हैं, (पसतचित्ते) प्रशान्त है चित्त जिसका (दतप्पा) जो आत्मा को दमन करता है, (जोगव) जो मन, वच, काया के शुभ योगो को प्रवृत्त करता है, (उवहाणव) जो शास्त्रीय तप करता है, (तहा) तथा (पयणुवाई) जो अल्पभाषी है और वह भी सोच-विचार कर बोलता है, (य) और (उवसते) शान्त है स्वभाव जिसका, (य) और (जिइदिए) जो इन्द्रियो को जीतता हो, (एयजोगसमाउत्तो) इस प्रकार की प्रवृत्ति वाला जो मनुष्य हो, वह (पम्हलेस) पद्म लेश्या को (तु परिणमे) परिणमित होता है।

भावार्थ:—हे गौतम ! जिसको क्रोध, मान, माया, लोभ कम हैं, जो सदैव शान्त चित्त रहता है, आत्मा का जो दमन करता है, मन, वचन, काया के शुभ योगो मे जो अपनी प्रवृत्ति करता है, शास्त्रीय विधि से तप करता है, सोच-विचार कर जो मधुर भाषण करता है, जो शरीर के अगोपागो को शान्त रखता है। इन्द्रियो को हर समय जो काबू मे रखता है, वह पद्मलेश्यी कहलाता है। इस प्रकार की भावना का एव प्रवृत्ति का जो मनुष्य अनुशीलन करता है, वह मनुष्य मर कर ऊर्ध्वगति मे जाता है। हे गौतम ! शुक्ल लेश्या का कथन यो है—

मूलः—अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, धम्मसुक्काणि झायए ।
पसतचित्ते दतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥१२॥
सरागो वीयरागो वा, उवसते जिइदिए ।
एयजोगसमाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ॥१३॥

छाया·—आर्त्तरौद्रे वर्जयित्वा, धर्मशुक्ले ध्यायति ।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, समितो गुप्तश्च गुप्तिभि· ॥१२॥
सरागो वीतरागो वा, उपशातो जितेन्द्रियः ।
एतद्योग समायुक्त, शुक्ललेश्यातु परिणमेत् ॥१३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (अट्टरुद्दाणि) आर्त और रौद्र ध्यानो को (वज्जित्ता) छोडकर (धम्मसुक्काणि) धर्म और शुक्ल ध्यानो को (झायए) जो चितवन करता हो, (पसतचित्ते) प्रशान्त है चित्त जिसका (दतप्पा) दमन किया है अपनी आत्मा को जिसने (समिए) जो पाँच समिति करके युक्त हो, (य) और (गुत्तिसु) तीन गुप्ति से (गुत्ते) गुप्त है (सरागी) जो सराग (वा) अथवा (वीयरागो) वीतराग सयम रखता हो, (उवसते) शात है चित्त और (जिइदिए) जो जितेन्द्रिय है, (एयजोगसमाउत्तो) ऐसे आचरणो से जो युक्त है, वह मनुष्य (सुक्कलेस) शुक्ल लेश्या को (तु परिणमे) परिणमित होता है ।

भावार्थः—हे आर्य ! जो आर्त और रौद्र ध्यानो को परित्याग करके सदैव धर्मध्यान और शुक्लध्यान का चिन्तवन करता है । क्रोध, मान, माया और लोभ आदि के शान्त होने से प्रशान्त हो रहा है चित्त जिसका, सम्यक्ज्ञान, दर्शन एव चारित्र से जिसने अपनी आत्मा को दमन कर रखा है, चलने, बैठने, खाने, पीने, आदि सभी व्यवहारो मे सयम रखता है, मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति से जिसने अपनी आत्मा गोपी है, सराग यद्वा वीतराग सयम जो रखता है, जिसका चेहरा शान्त है, इन्द्रियजन्य विषयो को विष समझकर उन्हें जिसने छोड रखे हैं, वही आत्मा शुक्ललेश्यी है। यदि इस अवस्था मे मनुष्य मरता है तो वह ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है ।

मूलः—किण्हा नीला काऊ तिण्णि वि,
एयाओ अहमलेस्साओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो,
दुग्गइं उववज्जई ॥१४॥

छायाः—कृष्णा नीला कापोता, तिस्रोऽप्येता अधर्मलेश्याः ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीव:, दुर्गतिमुपपद्यते ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (किण्हा) कृष्ण (नीला) नील (काऊ) कापोत (एयाओ) ये (तिण्णि) तीनो (वि) ही (अहमलेसाओ) अधर्म लेश्याएँ हैं। (एयाहिं) इन (तिहिं) तीनो (वि) ही लेश्याओ से (जीवो) जीव (दुग्गइ) दुर्गति को (उववज्जई) प्राप्त करता है।

भावार्थः—हे गौतम ! कृष्ण, नील और कापोत, इन तीनो को ज्ञानी जनो ने अधर्म लेश्याएँ (अधर्म भावनाएँ) कहा है। इस प्रकार की अधर्म भावनाओ से जीव दुर्गति मे जाकर महान् कष्टो को भोगता है। अत: ऐसी बुरी भावनाओ को कभी भी हृदयगम न होने देना, यही श्रेष्ठ मार्ग है।

मूलः—तेऊ पम्हा सुक्का,
तिण्णि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो,
सुग्गइ उववज्जई ॥१५॥

छायाः—तेजसी पद्मा शुक्ला, तिस्रोऽप्येता धर्मलेश्या: ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीव, सुगतिमुपपद्यते ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तेऊ) तेजो (पम्हा) पद्म और (सुक्का) शुक्ल (एयाओ) ये (तिण्णि) तीनो (वि) ही (धम्म लेसाओ) धर्म लेश्याएँ हैं। (एयाहिं) इन (तिहिं) तीनो (वि) ही लेश्याओ मे (जीवो) जीव (सग्गइ) सुगति को (उववज्जई) प्राप्त करता है।

भावार्थः—हे आर्य ! तेजो, पद्म और शुक्ल, ये तीनो, ज्ञानी जन द्वारा धर्म लेश्याएँ (धर्म भावनाएँ) कही गयी हैं। इस प्रकार धर्म भावना रखने से वह जीव यहाँ भी प्रशसा का पात्र होता है, और मरने के पश्चात् भी वह सुगति ही मे जाता है। अतएव मनुष्यो को चाहिए कि वे अपनी भावनाओ को सदा शुभ या शुद्ध रक्खें। जिससे उस आत्मा को मोक्ष धाम मिलने मे विलम्ब न हो।

मूलः—अन्तमुहुत्तम्मि गए, अतमुहुत्तम्मि सेसए चेव।
लेसाहि परिणयाहि, जीवा गच्छति परलोयं ॥१६॥

छाया—अन्तर्मुहूर्त्ते गते, अन्तर्मुहूर्त्ते शेषे चैव।
लेश्याभि परिणताभि, जीवा गच्छन्ति परलोकम् ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (परिणयाहि) परिणमित हो गयी है (लेसाहि) लेश्या जिसके ऐसा (जीवा) जीव (अतमुहुत्तम्मि) अन्तर्मुहूर्त (गए) होने पर (चेव) और (अतमुहुत्तम्मि) अन्तर्मुहूर्त (सेसए) अवशेष रहने पर (परलोय) परलोक को (गच्छति) जाते हैं।

भावार्थ—हे आर्य ! मनुष्य और तिर्यञ्चो के अन्तिम समय मे, योग्य वा अयोग्य, जिस किसी भी स्थान पर उन्हें जाना होता है उसी स्थान के अनुसार उनकी भावना मरने के अन्तमुंहूर्त पहले आती है और वह भावना उसने अपने जीवन में भले और बुरे कार्य किये होंगे उसी के अनुसार अन्तिम समय मे वैसी ही लेश्या (भावना) उसकी होगी और देवलोक तथा नरक में रहे हुए देव और नेरिया मरने के अन्तमुंहूर्त पहले अपने स्थानानुसार लेश्या (भावना) ही मे मरेंगे।

मूल—तम्हा एयासि लेसाण, अणुभावं वियाणिया।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणी ॥१७॥

छाया—तस्मादेतासा लेश्याना, अनुभाव विज्ञाय।
अप्रशस्तास्तु वर्जयित्वा, प्रशस्ता अधितिष्ठन् मुनि ॥१७॥

अन्वयार्थः—(तम्हा) इसलिए (एयासि) इन (लेसाण) लेश्याओ के (अणुभाव) प्रभाव को (वियाणिया) जानकर (अप्पसत्थाओ) बुरी लेश्याओ (भावनाओ) को (वज्जित्ता) छोडकर (पसत्था) अच्छी प्रशस्त लेश्याओं को (मुणी) मुनि (अहिट्ठिए) अगीकार करे ।

भावार्थः—हे भले-बुरे के फल जानने वाले ज्ञानी साधु जनो ! इस प्रकार छहो लेश्याओ का स्वरूप समझ कर इनमे से बुरी लेश्याओं (भावनाओ) को तो कभी भी अपने हृदय तक मे फटकने मत दो और अच्छी भावनाओं को सदैव हृदयगम करके रखो इसी मे मानव-जीवन की सफलता है ।

॥ इति द्वादशोऽध्यायः ॥

□

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय तेरहवां)

कषाय-स्वरूप

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूल.—कोहो अ माणो अ अणिग्गहीआ,
माया अ लोभो अ पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइ पुणब्भवस्स ॥१॥

छाया:—क्रोधश्च मानश्चातिगृहीतौ,
माया च लोभश्च प्रवर्धमानौ ।
चत्वार एते कृत्स्ना कषाया,
सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ॥१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अणिग्गहीआ) अनिग्रहीत (कोहो) क्रोध (अ) और (माणो) मान (पवड्ढमाणा) बढता हुआ (माया) कपट (अ) और (लोभो) लोभ (एए) ये (कसिणा) सम्पूर्ण (चत्तारि) चारों ही (कसाया) कषाय (पुणब्भवस्स) पुनर्जन्म रूप वृक्ष के (मूलाइ) मूलो को (सिंचंति) सींचते हैं ।

भावार्थ—हे आर्य ! जिसका निग्रह नहीं किया है ऐसा क्रोध और मान तथा बढ़ता हुआ कपट और लोभ ये चारो ही सम्पूर्ण कषाय पुनः-पुनः जन्म-मरण रूप वृक्ष के मूलों को हरा-भरा रखते हैं । अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों ही कषाय दीर्घकाल तक संसार मे परिभ्रमण कराने वाले हैं ।

मूल:—जे कोहणे होइ जगट्ठभासी,
विओसियं जे उ उदीरएज्जा ।
अंधे व से दंडपहं गहाय,
अविओसिए घासति पावकम्मी ॥२॥

छाया—यः क्रोधनो भवति जगदर्थभाषी,
व्यपशमितं यस्तु उदीरयेत् ।
अन्ध इव सदण्डपथं गृहीत्वा,
अव्यपशमितः घृष्यति पापकर्मा ॥२॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (कोहणे) क्रोधी (होइ) होता है वह (जगट्ठभासी) जगत् के अर्थ को कहने वाला है। (उ) और (जे) वह (विओसिय) उपशान्त क्रोध को (उदीरएज्जा) पुनः जागृत करता है। (व) जैसे (अंधे) अन्धा (दंडपह) लकडी (गहाय) ग्रहण कर मार्ग मे पशुओ से कष्ट पाता हुआ जाता है, ऐसे ही (से) वह (अविओसिए) अनुपशान्त (पावकम्मी) पाप करने वाला (घासति) चतुर्गति रूप मार्ग मे कष्ट उठाता है।

भावार्थ—हे गौतम ! जिसने बात-बात मे क्रोध करने का स्वभाव कर रक्खा है, वह जगत् के जीवो मे अपने कर्मों से लूलापन, अन्धापन, बधिरता, आदि न्यूनताओ को अपनी जिह्वा के द्वारा सामने रख देता है और जो कलह उपशान्त हो रहा है, उसको पुनः चेतन कर देता है। जैसे अन्धा मनुष्य लकडी को लेकर चलते समय मार्ग मे पशुओ आदि से कष्ट पाता है, ऐसे ही वह महाक्रोधी चतुर्गति रूप मार्ग मे अनेक प्रकार के जन्म-मरणो का दुख उठाता रहता है।

मूल—जे आवि अप्पं वसुमंति मत्ता,
संखाय वायं अपरिक्ख कुज्जा ।
तवेण वाहं सहिउं त्ति मत्ता,
अण्णं जणं पस्सति बिंबभूयं ॥३॥

छाया —यश् चापि आत्मान वसुमान् मत्वा,
सख्या च वादमपरीक्ष्य कुर्यात् ।
तपसा वाऽह सहित इति मत्वा,
अन्य जन पश्यति बिम्वभूतम् ॥३॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (जे आवि) जो अल्पमति है, वह (अप्प) अपनी आत्मा को (वसुमति) सयमवान् है, ऐसा (मत्ता) मान कर और (सखाय) अपने को ज्ञानवान् समझता हुआ (अप्परिक्ख) परमार्थ को नही जानकर (वाय) वाद-विवाद करता है। (अह) मैं (तवेण) तपस्या करके (सहिउत्ति) सहित हूँ, ऐसा (मत्ता) मानकर (अण्ण) दूसरे (जण) मनुष्य को (बिंबभूय) केवल आकार मात्र (पस्सति) देखता है।

भावार्थ—हे आर्य ! जो अल्प मतिवाला मनुष्य है, वह अपने ही को सयमवान् समझता है और कहता है कि मेरे समान सयम रखने वाला कोई दूसरा है ही नही। जिस प्रकार मैं ज्ञान वाला हूँ, वैसा दूसरा कोई है ही नही, इस प्रकार अपनी श्रेष्ठता का ढिंढोरा पीटता फिरता है। तथा तपवान् भी मैं ही हूँ ऐसा मानकर वह दूसरे मनुष्य को गुणशून्य और केवल मनुष्याकार मात्र ही देखता है। इस प्रकार मान करने से वह मानी, पायी हुई वस्तु से हीनावस्था मे जा गिरता है।

मूल —पूयणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए ।
बहु पसवइ पाव, मायासल्ल च कुव्वइ ॥४॥

छाया.—पूजनार्थो यशस्कामी, मानसन्मानकामुक ।
वहु प्रसूते पाप, मायाशल्य च कुरुते ॥४॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (पूयणट्ठा) ज्यो की त्यो अपनी शोभा रखने के अर्थ (जसोकामी) यश का कामी और (माणसम्माण) मान सम्मान का (कामए) चाहने वाला (बहु) बहुत (पाव) पाप (पसवइ) पैदा करता है (च) और (मायासल्ल) कपट शल्य को (कुव्वइ) करता है।

भावार्थ—हे गौतम ! जो मनुष्य पूजा, यश, मान और सम्मान का भूखा है, वह इनकी प्राप्ति के लिए अनेक तरह के प्रपच करके अपने लिए पाप पैदा करता है और साथ ही कपट करने मे भी वह कुछ कम नही उतरता है।

मूल.—कसिण पि जो इमं लोगं,
पडिपुण्णं दलेज्जं इक्कस्स ।
तेणावि से न सतुस्से,
इइ दुप्पूरए इमे आया ॥५॥

छाया:—कृत्स्नमपि य इम लोक, प्रतिपूर्णं दद्यादेकस्मै ।
तेनापि स न सतुष्येत्, इति दु·पूरकोऽयमात्मा ॥५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जो) यदि (इक्कस) एक मनुष्य को (पडिपुण्ण) धन-धान्य से परिपूर्ण (इम) यह (कसिण पि) सारा ही (लोग) लोक (दलेज्ज) दे दिया जाय तो (तेणावि) उससे भी (से) वह (न) नही (सतुस्से) सतोषित होता है। (इइ) इस प्रकार से (इमे) यह (आया) आत्मा (दुप्पूरए) इच्छा से पूर्ण नही हो सकता है ।

भावार्थः—हे गौतम ! वैश्रमण देव किसी मनुष्य को हीरे, पन्ने, माणिक मोती तथा धन-धान्य से भरी हुई सारी पृथ्वी दे देवे तो भी उससे उसको सतोष नही हो सकता है। अत इस आत्मा की इच्छा को पूर्ण करना महान् कठिन है ।

मूल.—सुव्वणरूप्पस उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणतिआ ॥६॥

छाया—सुवर्णरूप्ययो· पर्वता भवेयु·,
स्यात्कदाचित्खलु कैलाशसमा असख्यका: ।
नरस्य लुब्धस्य न तै किंचित्,
इच्छा हि आकाशसमा अनन्तिका ॥६॥

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति ! (केलाससमा) कैलाश पर्वत के समान (सुवण्ण-रूप्पस्स) सोने, चाँदी के (असखया) अगणित (पव्वया) पर्वत (हु) निश्चय (भवे) हो और वे (सिया) कदाचित् मिल गये, तदपि (तेहि) उससे (लुद्धस्स) लोभी (नरस्स) मनुष्य की (किंचि) किंचित् मात्र भी तृप्ति (न) नही होती है, (हु) क्योकि (इच्छा) तृष्णा (आगाससमा) आकाश के समान (अणतिया) अनत है ।

भावार्थः—हे गौतम ! कैलाश पर्वत के समान लम्बे-चौडे असख्य पर्वतो के जितने सोने-चांदी के ढेर किसी लोभी मनुष्य को मिल जायें तो भी उसकी तृष्णा पूर्ण नहीं होती है । क्योकि जिस प्रकार आकाश का अन्त नही है, उसी प्रकार इस तृष्णा का भी कभी अन्त नही आता है ।

मूल—पुढवी साली जवा चेव, हिरण्ण पसुभिस्सह ।
पडिपुण्ण नालमेगस्स, इइ विज्जा तव चरे ॥७॥

छाया:—पृथिवी शालिर्यवाश्चैव, हिरण्य पशुभि सह ।
प्रतिपूर्णं नालमेकस्मै, इति विदित्वा तपश्चरेत् ॥७॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (साली) शालि (जव) जौ, यव (चेव) और (पसु-भिस्सह) पशुओ के साथ (हरिण्ण) सोने वाली (पडिपुण्ण) सम्पूर्ण भरी हुई (पुढवी) पृथ्वी (एगस्स) एक की तृष्णा को बुझाने के लिए (नाल) समर्थवान् नहीं है । (इइ) इस तरह (विज्जा) जान कर (तव) तप रूप मार्ग मे (चरे) विचरण करना चाहिए ।

भावार्थः—हे गौतम ! शालि, जव, सोना, चाँदी और पशुओं से परिपूर्ण पृथ्वी भी किसी एक मनुष्य की इच्छा को तृप्त करने मे समर्थ नहीं है । ऐसा जान कर तप रूप मार्ग मे घूमते हुए लोभदशा पर विजय प्राप्त करनी चाहिए । इसी से आत्मा की तृप्ति होती है ।

मूलः—अहे वयइ कोहेणं, माणेण अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं ॥८॥

छाया:—अधोव्रजति क्रोधेन, मानेनाधमा गतिः।
मायया सुगति प्रतिघात, लोभाद् द्विधा भयम् ॥८॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! आत्मा (कोहेण) क्रोध से (अहे) अधोगति मे (वयइ) जाता है (माणेण) मान से उस को (अहमा) अधम (गई) गति मिलती है, (माया) कपट से (गइपडिग्घाओ) अच्छी गति का प्रतिघात होता है। (लोहाओ) लोभ से (दुहओ) दोनो भव सवधी (भय) भय प्राप्त होता है।

भावार्थ:—हे आर्य ! जब आत्मा क्रोध करता है, तो उस क्रोध से उसे नरक आदि स्थानो की प्राप्ति होती है। मान करने से वह अधम गति को प्राप्त करता है। माया करने से पुरुषत्व या देवगति आदि अच्छी गति मिलने मे रुकावट होती है और लोभ से जीव इस भव एव पर-भव सवधी भय को प्राप्त होता है।

मूल.—कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥९॥

छाया:—क्रोधः प्रीति प्रणाशयति, मानो विनयनाशनः।
माया मित्राणि नाशयति, लोभः सर्वविनाशन ॥९॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (कोहो) क्रोध (पीइ) प्रीति को (पणासेइ) नाश करता है (माणो) मान (विणय) विनय को (नासणो) नाश करने वाला है। (माया) कपट (मित्ताणि) मित्रता को (नासेइ) नष्ट करता है। और (लोभो) लोभ (सव्व) सारे सद्गुणो का (विणासणो) विनाशक है।

भावार्थ:—हे गौतम ! क्रोध ऐसा बुरा है कि वह परस्पर की प्रीति को क्षणभर मे नष्ट कर देता है। मान विनम्र भाव को कभी अपनी ओर झांकने तक भी नही देता। कपट से मित्रता का भंग हो जाता है और लोभ सभी गुणो का नाश कर देता है। अत क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारो ही दुर्गुणो से अपनी आत्मा को सदा सर्वदा बचाते रहना चाहिए।

मूल.—उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।
माय मज्जवभावेण, लोभ सतोसओ जिणे ॥१०॥

छाया—उपशमेन हन्यात् क्रोध, मान मार्दवेन जयेत् ।
माया मार्जवभावेन, लोभ सन्तोषतो जयेत् ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (उवसमेण) उपशान्त "क्षमा" से (कोह) क्रोध का (हणे) नाश करे (मद्दवया) नम्रता से (माण) मान को (जिणे) जीते (मज्जव) सरल (भावेण) भावना से (माया) कपट को और (सतोसओ) सतोष से (लोभ) लोभ को (जिणे) पराजित करना चाहिए ।

भावार्थ—हे आर्य ! इस क्रोध रूप चाण्डाल को क्षमा से दूर भगाओ और विनम्र भावो से इस मान का मद नाश करो । इसी प्रकार सरलता से कपट को और सतोष से लोभ को पराजित करो । तभी वह मोक्ष प्राप्त होगा जहाँ पर कि गये बाद, वापिस दुखो मे आने का काम नही ।

मूलः—असखय जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताण ।
एअ वियाणाहि जणे पमत्ते,
क नु विहिंसा अजया गहिंति ॥११॥

छाया—असस्कृत जीवित मा प्रमादी,
जरोपनीतस्य खलु नास्ति त्राणम् ।
एव विजानीहि जना प्रमत्ता,
किं नु विहिंस्रा अयता गमिष्यन्ति ॥११॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जीविय) यह जीवन (असंखय) असस्कृत है । अत (मा पमायए) प्रमाद मत करो (हु) क्योंकि (जरोवणीयस्स) वृद्धावस्था वाले पुरुष को किसी की (ताण) शरण (नत्थि) नही है (एअ) ऐसा तू (वियाणाहि) अच्छी तरह से जान ले (पमत्ते) जो प्रमादी (विहिंसा) हिंसा करने वाले (अजया) अजितेन्द्रिय (जणे) मनुष्य है, वे (नु) बेचारे (क) किसकी शरण (गहिंति) ग्रहण करेंगे ।

भावार्थः—हे गौतम ! इस मानव जीवन के टूट जाने पर न तो पुनः इसकी संधि हो सकती है, और न यह बढ ही सकता है। अतः धर्माचरण करने मे प्रमाद मत करो। यदि कोई वृद्धावस्था मे किसी की शरण प्राप्त करना चाहे तो इसमे भी वह असफल होता है। भला फिर जो प्रमादी और हिंसा करने वाले अजितेन्द्रिय मनुष्य है, वे परलोक मे किसकी शरण ग्रहण करेंगे ? अर्थात्—वहाँ के होने वाले दुखो से उन्हे कौन छुडा सकेगा ? कोई भी बचाने वाला नही है।

मूलः—वित्तेण ताण न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणतमोहे,
नेयाउअ दट्ठुमदट्ठुमेव ॥१२॥

छायाः—वित्तेन त्राण न लभेत प्रमत्तः,
अस्मिल्लोकेऽथवा परत्र।
दीपप्रणष्ट इवानन्तमोहः,
नैयायिक दृष्ट्वाऽप्यदृष्ट्वेव ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पमत्ते) वह प्रमादी मनुष्य (इमम्मि) इस (लोए) लोक मे (अदुवा) अथवा (परत्था) परलोक मे (वित्तेण) द्रव्य से (ताण) त्राण, शरण (न) नही (लभे) पाता है (अणतमोहे) वह अनत मोहवाला (दीवप्पणट्ठे व) दीपक के नाश हो जाने पर (ने[1] याउअ) न्यायकारी मार्ग को (दट्ठुमदट्ठुमेव) देखने पर भी न देखने वाले के समान है।

---

(१) जैसे धातु ढूंढने वाले मनुष्य दीपक को लेकर पर्वत की गुफा की ओर गये और उस दीपक से गुफा देख भी ली, परन्तु उसमे प्रवेश होने पर उस दीपक की उन्होने कोई पर्वाह न की। उनके आलस्य से दीपक बुझ गया, तब तो उन्होंने अँधेरे मे इधर-उधर भटकते हुए प्राणान्त कष्ट पाया। इसी तरह प्रमादी जीव धर्म के द्वारा मुक्ति पथ को देख लेने पर भी उस धर्म की द्रव्य के लोभवश फिर उपेक्षा कर बैठते हैं। वहाँ वे जन्म-जन्मान्तरो मे प्राणान्त जैसे कष्टो को अनेको बार उठाते रहेगे।

भावार्थ—हे गौतम ! धर्म-साधन करने मे आलस्य करने वाले प्रमादी मनुष्यो की इस लोक और परलोक मे द्रव्य के द्वारा रक्षा नही हो सकती है। प्रत्युत वे अनन्तमोही पुरुष, दीपक के नाश हो जाने पर न्यायकारी मार्ग को देखते हुए भी नहीं देखने वाले के समान हैं।

मूल.—सुत्तेसु यावी पडिवुद्धजीवी,
न वीससे पडिए आसुपण्णे।
घोरा मुहुत्ता अबल सरीर,
भारडपक्खीव चरऽप्पमत्तो ॥१३॥

छाया—सुप्तेषु चापि प्रतिवुद्धजीवी,
न विश्वसेत् पण्डित आशुप्रज्ञ ।
घोरा मुहूर्त्ता अबल शरीरं,
भारण्डपक्षीव चराऽप्रमत्तः ॥१३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (आसुपण्णे) तीक्ष्ण बुद्धि वाला (पडिवुद्धजीवी) द्रव्य निद्रा रहित तत्त्वो का जानकार (पडिए) पण्डित पुरुष (सुत्तेसुयावी) द्रव्य और भाव से जो सोते हुए प्रमादी मनुष्य हैं, उनका (न) नहीं (विससे) विश्वास करे, अनुकरण करे, क्योकि (मुहुत्ता) समय आयु क्षीण करने मे (घोरा) भयकर है। और (सरीर) शरीर भी (अवल) वल रहित है। अत (भारड-पक्खीव) भारड पक्षी की तरह (अप्पमत्तो) प्रमादरहित (चर) सयम मे विचरण कर।

भावार्थ—हे गौतम ! द्रव्य निद्रा से जाग्रत तीक्ष्णबुद्धि वाले पण्डित पुरुष जो होते हैं, वे द्रव्य और भाव से नींद लेने वाले प्रमादी पुरुषों के आचरणो का अनुकरण नही करते हैं। क्योकि वे जानते हैं कि समय जो है वह मनुष्य का आयु कम करने मे भयकर है। और यह भी नहीं है कि यह शरीर मृत्यु का सामना कर सके। अतएव जिस प्रकार भारड पक्षी अपना चुगा चुगने मे प्राय प्रमाद नही करता है उसी तरह तुम भी प्रमादरहित होकर संयमी जीवन विताने मे सफलता प्राप्त करो।

भावार्थः—हे गौतम ! इस मानव जीवन के टूट जाने पर न तो पुनः इसकी संधि हो सकती है, और न यह बढ ही सकता है। अतः धर्माचरण करने मे प्रमाद मत करो। यदि कोई वृद्धावस्था मे किसी की शरण प्राप्त करना चाहे तो इसमे भी वह असफल होता है। भला फिर जो प्रमादी और हिंसा करने वाले अजितेन्द्रिय मनुष्य है, वे परलोक मे किसकी शरण ग्रहण करेंगे ? अर्थात्—वहाँ के होने वाले दुखो से उन्हे कौन छुडा सकेगा ? कोई भी बचाने वाला नही है।

मूल—वित्तेण ताण न लभे पमत्तो,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणतमोहे,
नेयाउअं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥१२॥

छायाः—वित्तेन त्राण न लभेत प्रमत्त,
अस्मिल्लोकेऽथवा परत्र।
दीपप्रणष्ट इवानन्तमोहः,
नैयायिक दृष्ट्वाऽप्यदृष्ट्वेव ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पमत्ते) वह प्रमादी मनुष्य (इमम्मि) इस (लोए) लोक मे (अदुवा) अथवा (परत्था) परलोक मे (वित्तेण) द्रव्य से (ताण) त्राण, शरण (न) नही (लभे) पाता है (अणतमोहे) वह अनत मोहवाला (दीवप्पणट्ठेव) दीपक के नाश हो जाने पर (ने[1] याउअ) न्यायकारी मार्ग को (दट्ठुमदट्ठुमेव) देखने पर भी न देखने वाले के समान है।

---

(१) जैसे धातु ढूंढने वाले मनुष्य दीपक को लेकर पर्वत की गुफा की ओर गये और उस दीपक से गुफा देख भी ली, परन्तु उसमे प्रवेश होने पर उस दीपक की उन्होने कोई पर्वाह न की। उनके आलस्य से दीपक बुझ गया, तब तो उन्होंने अँधेरे मे इधर-उधर भटकते हुए प्राणान्त कष्ट पाया। इसी तरह प्रमादी जीव धर्म के द्वारा मुक्ति पथ को देख लेने पर भी उस धर्म की द्रव्य के लोभवश फिर उपेक्षा कर बैठते हैं। वहाँ वे जन्म-जन्मान्तरो मे प्राणान्त जैसे कष्टो को अनेको बार उठाते रहेगे।

भावार्थ—हे गौतम ! धर्म-साधन करने मे आलस्य करने वाले प्रमादी मनुष्यो की इस लोक और परलोक मे द्रव्य के द्वारा रक्षा नही हो सकती है। प्रत्युत वे अनन्तमोही पुरुष, दीपक के नाश हो जाने पर न्यायकारी मार्ग को देखते हुए भी नहीं देखने वाले के समान हैं।

मूल:—सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी,
न वीससे पडिए आसुपण्णे।
घोरा मुहुत्ता अबल सरीर,
भारडपक्खीव चरऽप्पमत्तो ॥१३॥

छाया—सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी,
न विश्वसेत् पण्डित आशुप्रज्ञ ।
घोरा मुहूर्त्ता अवल शरीर,
भारण्डपक्षीव चराऽप्रमत्तः ॥१३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (आसुपण्णे) तीक्ष्ण बुद्धि वाला (पडिबुद्धजीवी) द्रव्य निद्रा रहित तत्त्वो का जानकार (पडिए) पण्डित पुरुष (सुत्तेसुयावी) द्रव्य और भाव से जो सोते हुए प्रमादी मनुष्य हैं, उनका (न) नहीं (विससे) विश्वास करे, अनुकरण करे, क्योकि (मुहुत्ता) समय आयु क्षीण करने मे (घोरा) भयकर है। और (सरीर) शरीर भी (अवल) वल रहित है। अत (भारड-पक्खीव) भारड पक्षी की तरह (अप्पमत्तो) प्रमादरहित (चर) सयम मे विचरण कर।

भावार्थ—हे गौतम ! द्रव्य निद्रा से जाग्रत तीक्ष्णबुद्धि वाले पण्डित पुरुष जो होते हैं, वे द्रव्य और भाव से नींद लेने वाले प्रमादी पुरुषो के आचरणो का अनुकरण नहीं करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि समय जो है वह मनुष्य का आयु कम करने मे भयकर है। और यह भी नहीं है कि यह शरीर मृत्यु का सामना कर सके। अतएव जिस प्रकार भारड पक्षी अपना चुगा चुगने मे प्राय प्रमाद नही करता है उसी तरह तुम भी प्रमादरहित होकर सयमी जीवन विताने मे सफलता प्राप्त करो।

मूलः—जे गिद्धे कामभोएसु, एगे कूडाय गच्छइ ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥१४॥

छायाः—यो गृद्धा कामभोगेषु, एकः कूढाय गच्छति ।
न मया दृष्टः परलोकः, चक्षुर्दृष्टेय रतिः ॥१४॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (एगे) कोई एक (कामभोएसु) काम-भोगो मे (गिद्धे) आसक्त होता है, वह (कूडाय) हिंसा और मृषा भाषा को (गच्छइ) प्राप्त होता है, फिर उससे पूछने पर वह बोलता है कि (मे) मैंने (परेलोए) परलोक (न) नही (दिट्ठे) देखा है। (इमा) इस (रइ) पौद्गलिक सुख को (चक्खुदिट्ठा) प्रत्यक्ष आँखो से देख रहा हूँ।

भावार्थः—हे आर्य ! जो कामभोग मे सदैव लीन रहता है वह हिंसा झूठ आदि से बचा हुआ नही रहता है। यदि उससे कहा जाय कि हिंसादि कर्म करोगे तो नरक मे दुख उठाओगे और सत्कर्म करोगे तो स्वर्ग मे दिव्य सुख भोगोगे। ऐसा कहने पर वह प्रमादी बोल उठता है कि मैंने कोई भी स्वर्ग नरक नही देखे हैं, कि जिनके लिए इन प्रत्यक्ष कामभोगो का आनद छोड बैठूं।

मूलः—हत्थागया इमे कामा, कालिआ जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥१५॥

छायाः—हस्तागता इमे कामाः, कालिका येऽनागताः ।
को जानाति परः लोकः, अस्ति वा नास्ति वा पुनः ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे धर्मतत्त्वज्ञ ! (इमे) ये (कामा) कामभोग (हत्थागया) हस्तगत हो रहे हैं, और इन्हे त्यागने पर (जे) जो (अणागया) आगामी भव मे सुख होगा, यह तो (कालिआ) भविष्यत् की बात है (पुणो) तो फिर (को) कौन (जाणइ) जानता है (परेलोए) परलोक (अत्थि) है (वा) अथवा (नत्थि) नही है।

भावार्थः—अज्ञानी नास्तिक इस प्रकार कहते हैं कि हे धर्म के तत्त्व को जानने वालो ! ये कामभोग जो प्रत्यक्ष रूप मे मुझे मिल रहे हैं और जिन्हें त्याग देने पर आगामी भव मे इससे भी बढकर तथा आत्मिक सुख प्राप्त होगा, ऐसा तुम कहते हो, परन्तु यह तो भविष्यत् की वात है और फिर कौन जानता है कि नरक, स्वर्ग और मोक्ष हैं या नही ?

मूल—जणेण सद्धि होक्खामि, इइ बाले पगब्भइ ।
कामभोगाणुराएण, केस सपडिवज्जइ ॥१६॥

छाया—जनेन सार्द्धं भविष्यामि, इति बाल प्रगल्भते ।
कामभोगानुरागेण, क्लेश स सम्प्रतिपद्यते ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जणेण सद्धि) इतने मनुष्यो के साथ मेरा भी (होक्खामि) जो होना होगा, सो होगा, (इइ) इस प्रकार (बाले) वे अज्ञानी (पगब्भइ) बोलते हैं, पर वे आखिर (कामभोगाणुराएण) कामभोगो के अनुराग के कारण (केस) दुख ही को (सपडिवज्जइ) प्राप्त होते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! वे अज्ञानी जन इस प्रकार फिर बोलते हैं कि इतने दुष्कर्मी लोगो का परलोक मे जो होगा, वह मेरा भी हो जायगा । इतने सब के सब लोग क्या मूर्ख हैं ? पर हे गौतम ! आखिर मे वे कामभोगो के अनुरागी लोग इस लोक और परलोक मे महान् दुखो को भोगते हैं ।

मूल—तओ से दड समारभइ, तसेसु थावरेसु य ।
अट्ठाए व अणट्ठाए, भूयग्गाम विहिंसइ ॥१७॥

छाया—ततो दण्ड समारभते, त्रसेषु स्थावरेषु च ।
अर्थाय चानर्थाय, भूतग्राम विहिनस्ति ॥१७॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! यो स्वर्ग नरक आदि की असम्भावना मान करके (तओ) उसके बाद (से) वह मनुष्य (तसेसु) त्रस (अ) और (थावरेसु) स्थावर जीवो के विषय मे (अट्ठाए) प्रयोजन से (व) अथवा (अणट्ठाए) विना प्रयोजन से (दड) मन, वचन, काया के दण्ड को (समारभइ) समारभ करता है और (भूयग्गाम) प्राणियो के समूह का (विहिंसइ) वध करता है ।

मूलः—जे गिद्धे कामभोएसु, एगे कूडाय गच्छइ ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥१४॥

छायाः—यो गृद्धाः कामभोगेषु, एकः कूढाय गच्छति ।
न मया दृष्टः परलोकः, चक्षुर्दृष्टेय रतिः ॥१४॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (एगे) कोई एक (कामभोएसु) कामभोगो मे (गिद्धे) आसक्त होता है, वह (कूडाय) हिसा और मृषा भाषा को (गच्छइ) प्राप्त होता है, फिर उससे पूछने पर वह बोलता है कि (मे) मैंने (परेलोए) परलोक (न) नही (दिट्ठे) देखा है । (इमा) इस (रइ) पौद्गलिक सुख को (चक्खुदिट्ठा) प्रत्यक्ष आंखो से देख रहा हूँ ।

भावार्थः—हे आर्य ! जो कामभोग मे सदैव लीन रहता है वह हिसा झूठ आदि से बचा हुआ नही रहता है । यदि उससे कहा जाय कि हिंसादि कर्म करोगे तो नरक मे दुख उठाओगे और सत्कर्म करोगे तो स्वर्ग मे दिव्य सुख भोगोगे । ऐसा कहने पर वह प्रमादी बोल उठता है कि मैंने कोई भी स्वर्ग नरक नही देखे हैं, कि जिनके लिए इन प्रत्यक्ष कामभोगो का आनद छोड बैठूं ।

मूलः—हत्थागया इमे कामा, कालिआ जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥१५॥

छायाः—हस्तागता इमे कामाः, कालिका येऽनागताः ।
को जानाति परः लोकः, अस्ति वा नास्ति वा पुनः ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे धर्मतत्त्वज्ञ ! (इमे) ये (कामा) कामभोग (हत्थागया) हस्तगत हो रहे है, और इन्हे त्यागने पर (जे) जो (अणागया) आगामी भव मे सुख होगा, यह तो (कालिआ) भविष्यत् की बात है (पुणो) तो फिर (को) कौन (जाणइ) जानता है (परेलोए) परलोक (अत्थि) है (वा) अथवा (नत्थि) नही है ।

भावार्थः—अज्ञानी नास्तिक इस प्रकार कहते हैं कि हे धर्म के तत्त्व को जानने वालो ! ये कामभोग जो प्रत्यक्ष रूप मे मुझे मिल रहे हैं और जिन्हें त्याग देने पर आगामी भव मे इससे भी वढ कर तथा आत्मिक सुख प्राप्त होगा, ऐसा तुम कहते हो, परन्तु यह तो भविष्यत् की वात है और फिर कौन जानता है कि नरक, स्वर्ग और मोक्ष हैं या नही ?

मूल·—जणेण सद्धि होक्खामि, इइ बाले पगब्भइ ।
कामभोगाणुराएण, केस सपडिवज्जइ ॥१६॥

छाया.—जनेन सार्द्धं भविष्यामि, इति बाल प्रगल्भते ।
कामभोगानुरागेण, क्लेश स· सम्प्रतिपद्यते ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जणेण सद्धि) इतने मनुष्यो के साथ मेरा भी (होक्खामि) जो होना होगा, सो होगा, (इइ) इस प्रकार (वाले) वे अज्ञानी (पगब्भइ) वोलते हैं, पर वे आखिर (कामभोगाणुराएण) कामभोगो के अनुराग के कारण (केस) दुख ही को (सपडिवज्जइ) प्राप्त होते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! वे अज्ञानी जन इस प्रकार फिर वोलते हैं कि इतने दुष्कर्मी लोगो का परलोक मे जो होगा, वह मेरा भी हो जायगा । इतने सव के सव लोग क्या मूर्ख हैं ? पर हे गौतम ! आखिर मे वे कामभोगो के अनुरागी लोग इस लोक और परलोक मे महान् दुखो को भोगते हैं ।

मूल—तओ से दड समारभइ, तसेसु थावरेसु य ।
अट्ठाए व अणट्ठाए, भूयग्गाम विहिंसइ ॥१७॥

छाया—ततो दण्ड समारभते, त्रसेषु स्थावरेषु च ।
अर्थाय चानर्थाय, भूतग्राम विहिनस्ति ॥१७॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! यो स्वर्ग नरक आदि की असम्भावना मान करके (तओ) उसके वाद (से) वह मनुष्य (तसेसु) त्रस (अ) और (थावरेसु) स्थावर जीवों के विषय मे (अट्ठाए) प्रयोजन से (व) अथवा (अणट्ठाए) विना प्रयोजन से (दड) मन, वचन, काया के दण्ड को (समारभइ) समारभ करता है और (भूयग्गाम) प्राणियो के समूह का (विहिंसइ) वध करता है ।

भावार्थः—हे आर्य ! नास्तिक लोग प्रत्यक्ष भोगो को छोडकर भविष्यत् की कौन आशा करे, इस प्रकार कह कर, अपने दिल को कठोर बना लेते है। फिर वे, हलते-चलते त्रस जीवो और स्थावर जीवो की प्रयोजन से अथवा बिना प्रयोजन से, हिंसा करने के लिए, मन, वचन, काया के योगो को प्रारम्भ कर असख्य जीवो की हिंसा करते हैं।

मूलः—हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मस, सेयमेअ ति मन्नई ॥१८॥

छायाः—हिंस्रो बालो मृषावादी, मायी च पिशुनः शठ·।
भुञ्जान· सुरां मांसं, श्रेयो मे इदमिति मन्यते ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! स्वर्ग नरक को न मान कर वह (हिंसे) हिंसा करने वाला (बाले) अज्ञानी (मुसावाई) फिर झूठ बोलता है (माइल्ले) कपट करता है, (पिसुणे) निन्दा करता है (सढे) दूसरो को ठगने की करतूत करता रहता है। (सुर) मदिरा (मस) मास (भुजमाणे) भोगता हुआ (सेयमेअ) श्रेष्ठ है (ति) ऐसा (मन्नई) मानता है।

भावार्थः—हे गौतम ! स्वर्ग नरक आदि की असम्भावना करके वह अज्ञानी जीव हिंसा करने के साथ ही साथ झूठ बोलता है, प्रत्येक बात मे कपट करता है। दूसरो की निंदा करने मे अपना जीवन अर्पण कर बैठता है। दूसरो को ठगने मे अपनी सारी बुद्धि खर्च कर देता है। और मदिरा एव मास खाता हुआ भी अपना जीवन श्रेष्ठ मानता है।

मूल.—कायसा वयसा मत्त, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मल सचिणइ, सिसुणागु व्व मट्टिय ॥१९॥

छाया·—कायेन वचसा मत्त वित्ते गृद्धश्च स्त्रीषु।
द्विधा मलं सञ्चिनोति, शिशुनाग इव मृत्तिकाम् ॥१९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! वे नास्तिक लोग (कायसा) काय से (वायसा) वचन से (मत्ते) गर्वान्वित होने वाला (वित्ते) धन मे (य) और (इत्थिसु) स्त्रियो मे (गिद्ध) आसक्त हो वह मनुष्य (दुहओ) राग द्वेष के द्वारा (मल) कर्म मल को (सचिणइ) इकट्ठा करता है (व्व) जैसे (सिसुणागु) शिशुनाग "अलसिया" (मट्टिअ) मिट्टी से लिपटा रहता है ।

भावार्थ—हे आर्य ! मन, वचन और काया से गर्व करने वाले वे नास्तिक लोग धन और स्त्रियो मे आसक्त होकर रागद्वेष से गाढ कर्मो का अपनी आत्मा पर लेप कर रहे हैं । पर उन कर्मों के उदय काल मे, जैसे अलसिया मिट्टी से उत्पन्न हो कर, फिर मिट्टी ही से लिपटाता है, किन्तु सूर्य की आतापना से मिट्टी के सूखने पर वह अलसिया महान कष्ट उठाता है, उसी तरह वे नास्तिक लोग भी जन्म-जन्मान्तरो मे महान कष्टो को उठावेंगे ।

मूल—तओ पुट्ठो आयकेण, गिलाणो परितप्पइ ।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥२०॥

छाया—तत स्पृष्ट आतङ्केन, ग्लान परितप्यते ।
प्रभीत परलोकात्, कर्मानुप्रेश्यात्मन ॥२०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! कर्म बांध लेने के (तओ) पश्चात् (आयकेण) असाध्य रोगो से (पुट्ठो) घिरा हुआ वह नास्तिक (गिलाणो) ग्लानि पाता है और (परलोगस्स) परलोक के भय से (पभीओ) डरा हुआ (अप्पणो) अपने किये हुए (कम्माणुप्पेहि) कर्मों को देख कर (परितप्पइ) खेद पाता है ।

भावार्थ—हे गौतम ! पहले तो ऐसे नास्तिक लोग विषयो के लोलुप हो कर कर्म बांध लेते हैं फिर जब उन कर्मों का उदय काल निकट आता है तो असाध्य रोगो से घिर जाते हैं । उस समय उन्हें बडी ग्लानि होती है । नरकादि के दुखो से वे बडे घबराते हैं और अपने किये हुए बुरे कर्मों के फलों को देख कर अत्यन्त खेद पाते हैं ।

मूलः—सुआ मे नरए ठाणा, असीलाण च जा गई ।
बालाण कूरकम्माण, पगाढा जत्थ वेयणा ॥२१

छाया·—श्रुतानि मया नरकस्थानानि, अशीलानां च या गतिः।
बालानां क्रूरकर्माणा, प्रगाढा यत्र वेदना ॥२१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! वे बोलते है, कि (जत्थ) जहां पर उन (कूरकम्माण) क्रूर कर्मों के करने वाले (बालाण) अज्ञानियो को (पगाढा) प्रगाढ (वेयणा) वेदना होती है। मैंने (नरए) नरक मे (ठाणा) कुम्भी, वैतरणी, आदि जो स्थान है, वे (सुआ) सुने है, (च) और (असीलाणं) दुराचारियो की (जा) जो (गई) नारकीय गति होती है उसे भी सुना है।

भावार्थः—हे आर्य ! नास्तिकजन नर्क और स्वर्ग किसी को भी न मान कर खूब पाप करते हैं। जब उन कर्मो का उदय काल निकट आता है तो उनको कुछ असारता मालूम होने लगती है। तब वे बोलते हैं कि सच है, हमने तत्त्वज्ञो द्वारा सुना है, कि नरक मे पापियो के लिए कुम्भियां, वैतरणी नदी आदि स्थान है और उन दुष्कर्मियो की जो नारकीय गति होती है, वहां क्रूरकर्मी अज्ञानियो को प्रगाढ वेदना होती है।

मूलः—सव्व विलविअं गीअं; सव्वं नट्ट विडविअं।
सव्वे आभरणा भारा; सव्वे कामा दुहावहा ॥२२॥

छाया·—सर्वं विलपितं गीत, सर्वं नृत्य विडम्बितम्।
सर्वाण्याभरणानि भारा·, सर्वे कामा दु.खावहाः ॥२२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (सव्व) सारे (गीअ) गीत (विलविअ) विलाप के समान है। (सव्व) सारे (नट्ट) नृत्य (विडबिअ) विडम्बना रूप है। (सव्वे) सारे (आहरणा) आभरण (भारा) भार के समान है। और (सव्वे) सम्पूर्ण (कामा) काम भोग (दुहावहा) दुख प्राप्त कराने वाले है।

भावार्थ·—हे गौतम ! सारे गीत विलाप के समान है। सारे नृत्य विडम्बना के समान है। सारे रत्न जडित आभरण भार रूप हैं। और सम्पूर्ण काम भोग जन्म-जन्मातरो मे दुख देने वाले हैं।

मूल—जहेह सीहो व मिअ गहाय,
मच्चू नर नेइ हु अन्तकाले ।
न तस्स माया व पिआ व भाया,
कालम्मि तम्मंसहरा भवन्ति ॥२३॥

छाया—यथेह सिंह इव मृग गृहीत्वा,
मृत्युर्नर नयति ह्यन्तकाले ।
न तस्य माता वा पिता वा भ्राता,
काले तस्याशधरा भवन्ति ॥२३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (इह) इस ससार मे (जहा) जैसे (सीहो) सिंह (मिअ) मृग को (गहाय) पकड कर उसका अन्त कर डालता है (व) वैसे ही (मच्चू) मृत्यु (हु) निश्चय करके (अन्तकाले) आयुष्य पूर्ण होने पर (नर) मनुष्य को (नेइ) परलोक मे ले जाकर पटक देती है। (कालम्मि) उस काल मे (माया) माता (वा) अथवा (पिआ) पिता (व) अथवा (भाया) भ्राता (तम्म-सहरा) उसके दु ख को अंश मात्र भी बंटाने वाले (न) नही (भवति) होते हैं।

भावार्थ—हे आर्य ! जिस प्रकार सिंह भागते हुए मृग को पकड कर उसे मार डालता है। इसी तरह मृत्यु भी मनुष्य का अन्त कर डालती है। उस समय उसके माता-पिता-भाई आदि कोई भी उसके दु.ख का बटवारा करके भागीदार नही बनते। अपनी निजी आयु मे से आयु का कुछ भाग दे कर मृत्यु से उसें बचा नही सकते हैं।

मूल—इमं च मे अत्थि इम च नत्थि,
इम च मे किच्चमिम अकिच्च ।
त एवमेव लालप्पमाण,
हरा हरति त्ति कह पमाए ॥२४॥

छाया·—इद च मेऽस्ति, इदम् च नास्ति, इदं च कृत्यमिदमकृत्यम् ।
तमेवमेव लालप्पमान, हरा हरन्तीति कथ प्रमाद· ।।२४।।

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (इम) यह (मे) मेरा (अत्थि) है, (च) और (इम) यह घर (मे) मेरा (नत्थि) नही है, यह (किच्च) करने योग्य है (च) और (इम) यह व्यापार (अकिच्च) नही करने योग्य है, (एवमेव) इस प्रकार (लालप्पमाण) बोलने वाले प्रमादियो के (त) आयु को (हरा) रात-दिन रूप चोर (हरति) हरण कर रहे है (त्ति) इसलिए (कह) कैसे (पमाए) प्रमाद कर रहे हो ?

भावार्थः—हे गौतम ! यह मेरा है, यह मेरा नही है, यह काम करने का है और यह बिना लाभ का व्यापार आदि मेरे नही करने का है। इस प्रकार बोलने वालो का आयु तो रात दिन रूप चोर हरण करते जा रहे हैं। फिर प्रमाद क्यो करते हो ? अर्थात् एक ओर मेरे-तेरे की कल्पना और करने न करने के सकल्प चालू बने रहते है और दूसरी ओर काल रूपी चोर जीवन को हरण कर रहा है अत· शीघ्र ही सावधान होकर परमार्थ-साधन मे लग जाना चाहिए ।

।। इति त्रयोदशोऽध्याय· ।।

ॐ
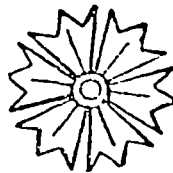
निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय चौदहवां)

वैराग्य सम्बोधन

॥ भगवान् श्री ऋषभोवाच ॥

मूलः—सबुज्झह किं न बुज्झह,
सबोही खलु पेच्च दुल्लहा,
णो हूवणमति राइओ,
नो सुलभ पुणरावि जीविय ॥१॥

छाया.—सबुध्यध्व किं न बुध्यध्व,
सम्वोधि खलु प्रेत्य दुर्लभा।
नो खल्वुपनमन्ति रात्रयः,
नो सुलभ पुनरपि जीवितम् ॥१॥

अन्वयार्थ—हे पुत्रो! (सबुज्झह) धर्म बोध करो (किं) सुविधा पाते हुए क्यो (न) नही (बुज्झह) बोध करते हो? क्योकि (पेच्च) परलोक मे (खलु) निश्चय ही (सबोही) धर्म-प्राप्ति होना (दुल्लहा) दुर्लभ है। (राइओ) गयी हुई रात्रियाँ (णो) नही (हु) निश्चय (उवणमति) पीछी आती हैं। (पुणरावि) और फिर भी (जीविय) मनुष्य जन्म मिलना (सुलभ) सुगम (न) नही है।

भावार्थ—हे पुत्रो! सम्यक्त्वरूप धर्म बोध को प्राप्त करो! सब तरह से सुविधा होते हुए भी धर्म को प्राप्त क्यो नही करते? अगर मानव जन्म मे

धर्म-बोध प्राप्त न किया, तो फिर धर्म-बोध प्राप्त होना महान् कठिन है। गया हुआ समय तुम्हारे लिए वापस लौट कर आने का नही, और न मानव जीवन ही सुलभता से मिल सकता है।

मूलः—डहरा बुड्ढाय पासह,
गब्भत्था वि चयति माणवा।
सेणे जह वट्टय हरे,
एवमाउखयम्मि तुट्टई ॥२॥

छायाः—डिभावृद्धाः पश्यत, गर्भस्था अपि त्यजन्ति मानवा।
श्येनो यथा वर्त्तक हरेत्, एवमायुक्षये त्रुट्यति ॥२॥

अन्वयार्थः—हे पुत्रो! (पासह) देखो (डहरा) बालक तथा (बुड्ढा) वृद्ध (चयति) शरीर त्याग देते हैं। और (गब्भत्था) गर्भस्थ (माणवा वि) मनुष्य भी शरीर त्याग देते हैं (जह) जैसे (सेणे) बाज पक्षी (वट्टय) बटेर को (हरे) हरण कर ले जाता है (एव) इसी तरह (आउखयम्मि) उम्र के बीत जाने पर (तुट्टई) मानव-जीवन टूट जाता है।

भावार्थः—हे पुत्रो! देखो कितनेक तो बालवय मे ही तथा कितनेक वृद्धा-वस्था मे अपने मानव-शरीर को छोडकर यहाँ से चल बसते हैं। और कितनेक गर्भावास मे ही मरण को प्राप्त हो जाते है। जैसे, बाज पक्षी अचानक बटेर को आ दबोचता है, वैसे ही न मालूम किस समय आयु के क्षय हो जाने पर मृत्यु प्राणो को हरण कर लेगी। अर्थात् आयु के क्षय होने पर मानव-जीवन की शृंखला टूट जाती है।

मूलः—मायाहिं पियाहिं लुप्पइ,
नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।
एयाइं भयाइं पेहिया,
आरंभा विरमेज्ज सुव्वए ॥३॥

छाया —मातृभिः पितृभिर्लुप्यते, नो सुलभा सुगतिश्च प्रेत्य तु।
एतानि भयानि प्रेक्ष्य, आरम्भाद्विरमेत्सुव्रत· ॥३॥

अन्वयार्थः—हे पुत्रो ! माता-पिता के मोह मे फँसकर जो धर्म नहीं करता है, वह (मायाहिं) माता (पियाहिं) पिता के द्वारा ही (लुप्पइ) परिभ्रमण करता है (य) और उसे (पेच्चओ) परलोक मे (सुगई) सुगति मिलना (सुलहा) सुलभ (न) नही है। (एयाइ) इन (भयाइ) भयो को (पेहिया) देख कर (आरभा) हिंसादि आरम से (विरमेज्ज) निवृत्त हो, वही (सुव्वए) सुव्रत-वाला है।

भावार्थ—हे पुत्रो ! माता-पितादि कौटुम्बिक जनो के मोह मे फँसकर जिसने धर्म नही किया, वह उन्ही के कारण ससार के चक्र मे अनेक प्रकार के कष्टों को उठाता हुआ भ्रमण करता रहता है, और जन्म-जन्मान्तरों मे भी उसे सुगति का मिलना सुलभ नही है। अत इस प्रकार ससार मे भ्रमण करने से होने वाले अनेको कष्टो को देखकर जो हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि कामो से विरक्त रहे वही मानव-जीवन को सफल करने वाला सुव्रती पुरुष है।

मूल —जमिण जगती पुढो जगा,
कम्मेहि लुप्पति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहइ,
णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठय ॥४॥

छाया —यदिद जगति पृथक् जगत्, कर्मभिर्लुप्यन्ते प्राणिनः।
स्वयमेव कृतैर्गाहते नो, तस्य मुच्येत् अस्पृष्टः ॥४॥

अन्वयार्थ.—हे पुत्रो ! (जमिण) जो हिंसा से निवृत्त नही होते हैं उनको यह होता है, कि (जगती) ससार मे (पाणिणो) वे प्राणी (पुढो) पृथक्-पृथक् (जगा) पृथ्वी आदि स्थानो मे (कम्मेहिं) कर्मों से (लुप्पति) भ्रमण करते हैं। क्योकि (सयमेव) अपने (कडेहिं) किये हुए कर्मों के द्वारा (गाहइ) नरकादि

स्थानो को प्राप्त करते है। (तस्स) उन्हे (ऽपुट्ठय) कर्म स्पर्श अर्थात् भोगे बिना (णो) नही (मुच्चेज्ज) छोडते हैं।

भावार्थ—हे पुत्रो! जो हिंसादि से मुँह नही मोडते हैं, वे इस ससार मे पृथ्वी, पानी, नरक और तिर्यञ्च आदि अनेको स्थानो और योनियो मे कष्टो के साथ घूमते रहते है। क्योकि उन्होने स्वयमेव ही ऐसे कार्य किये हैं, कि जिन कर्मो के भोगे बिना उनका छुटकारा कभी हो ही नही सकता है।

मूल—विरया वीरा समुट्ठिया, कोहकायरियाइपीसणा।
पाणे ण हणति सव्वसो, पावाओ विरयाभिनिव्वुडा॥५॥

छाया—विरता वीरा समुत्थिता., क्रोधकातरिकादिपीपणाः।
प्राणान्न घ्नन्ति सर्वश, पापाद्विरता अभिनिर्वृता॥५॥

अन्वयार्थ—हे पुत्रो! (विरया) जो पौद्गलिक सुखो से विरक्त है और (समुट्ठिया) सदाचार के सेवन करने मे सावधान है, (कोहकायरियाइ) क्रोध, माया और उपलक्षण से मान एवं लोभ को (पीसणा) नाश करने वाला है, (सव्वसो) मन, वचन, काया, से जो (पाणे) प्राणो को (ण) नही (हणति) हनता है (पावाओ) हिंसाकारी अनुष्ठानो से जो (विरयाभिनिव्वुडा) विरक्त है और क्रोधादि से उपशान्त है चित्त जिसका, उसको (वीरा) वीर पुरुष कहते है।

भावार्थः—हे पुत्रो! मारकाट या युद्ध करके कोई वीर कहलाना चाहे तो वास्तव मे वह वीर नही है। वीर तो वह है जो पौद्गलिक सुखो से अपना मन मोड लेता है, सदाचार का पालन करने मे सदैव सावधानी रखता है, क्रोध, मान, माया और लोभ इन्हे अपना आन्तरिक शत्रु समझकर, इनके साथ युद्ध करता रहता है और उस युद्ध मे उन्हे नष्ट कर विजय प्राप्त करता है, मन, वचन और काया से किसी तरह दूसरो के हक मे बुरा न हो, ऐसा हमेशा ध्यान रखता रहता है, और हिंसादि आरम्भ से दूर रह कर जो उपशान्त चित्त से रहता है।

मूल.—जे पारिभवई पर जणं,
ससारे परिवत्तई मह ।
अदु इखिणिया उ पाविया,
इति सखाय मुणी ण मज्जई ॥६॥

छाया:—यः परिभवति पर जन,
ससारे परिवर्त्तते महत् ।
अत इखिनिका तु पापिका,
इति सख्याय मुनिर्न माद्यति ॥६॥

अन्वयार्थ—हे पुत्रो ! (जे) जो (पर) दूसरे (जण) मनुष्य को (पारिभवई) अवज्ञा से देखता है, वह (ससारे) ससार मे (मह) अत्यन्त (परिवत्तई) परिभ्रमण करता है (अदु) इसलिए (पाविया) पापिनी (इखिणिया) निंदा को (इति) ऐसी (सखाय) जानकर (मुणी) साधु पुरुष (ण) नहीं (मज्जई) अभिमान करे ।

भावार्थः—हे पुत्रो ! जो मनुष्य अपने से जाति, कुल, बल, रूप आदि मे न्यून हो, उसकी अवज्ञा या निन्दा करने से, वह मनुष्य दीर्घकाल तक ससार मे परिभ्रमण करता रहता है। जिस वस्तु को पाकर निन्दा की थी, वह पापिनी निन्दा उससे भी अधिक हीनावस्था मे पटकने वाली है। ऐसा जानकर साधु जन न तो कभी दूसरे की निन्दा ही करते हैं, और न, पायी हुई वस्तु ही का कभी गर्व करते हैं।

मूल—जे इह सायाणुगनरा,
अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया ।
किवणेण समं पगब्भिया,
न विजाणति समाहिमाहित ॥७॥

छायाः—य इह सातानुगनरा, अध्युपपन्ना कामैर्मूर्च्छिता ।
कृपणेन सम प्रगल्भिता, न विजानन्ति समाधिमाख्यातम् ॥७॥

अन्वयार्थः—हे पुत्रो ! (इह) इस ससार मे (जे) जो (नरा) मनुष्य (साया णुग) ऋद्धि, रस साता के (अज्झोववन्ना) साथ (कामेहिं) काम भोगो से (मुच्छिया) मोहित हो रहे है, और (किवणेण सम) दीन सरीखे (पगब्भिया) घेटे हैं वे (आहित) कहे हुए (समाहिं) समाधि मार्ग को (न) नही (वि जाणति) जानते है।

भावार्थः—हे पुत्रो ! इस ससार मे अनेक प्रकार के वैभवो से युक्त जो मनुष्य है वे काम भोगो मे आसक्त होकर कायर की तरह बोलते हुए, धर्माचरण मे हठीलापन दिखाते है, उन्हे ऐसा समझो कि वे वीतराग के कहे हुए समाधि मार्ग को नही जानते है।

मूलः—अदक्खुव दक्खुवाहियं, सद्दहसु अदक्खुदंसणा।
हंदि हु सुनिरुद्धदसणे, मोहणिज्जण कडेण कम्मुणा ॥८॥

छायाः—अपश्य इव पश्यव्याख्यात, श्रद्धस्व अपश्यक दर्शनाः।
हंहो हि सुनिरुद्धदर्शनाः, मोहनीयेन कृतेन कर्मणा ॥८॥

अन्वयार्थः—हे पुत्रो ! (अदक्खुव) तुम अन्धे क्यो बने जा रहे हो ! (दक्खुवाहिय) जिसने देखा है उनके वाक्यो मे (सद्दहसु) श्रद्धा रक्खो और (हदि अदक्खुदंसणा) हे ज्ञान-शून्य मनुष्यो ! ग्रहण करो वीतराग के कहे हुए आगमो को। परलोकादि नही है, ऐसा कहने वालो के (मोहणिज्जेण) मोहवश (कडेण) अपने किये हुए (कम्मुणा) कर्मों द्वारा (दसणे) सम्यक्ज्ञान (सुनिरुद्ध) अच्छी तरह ढका है।

भावार्थ—हे पुत्रो ! कर्मों के शुभाशुभ फल होते हुए भी जो उसकी नास्तिकता बताता है, वह अन्धा ही है। ऐसे को कहना पडता है, कि जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप मे अपने केवलज्ञान के बल से स्वर्ग नरकादि देखे है, उनके वाक्यो को प्रमाण भूत, वह माने और उनके कहे हुए वाक्यो को, ग्रहण कर उनके अनुसार अपनी प्रकृति बनावे। हे ज्ञानशून्य मनुष्यो ! तुम कहते हो कि वर्तमान काल मे जो होता है, वही है और सब ही नास्तिरूप है। ऐसा कहने से तुम्हारे पिता और पितामह की भी नास्तिता सिद्ध होगी। और जब इनकी ही नास्ति होगी, तो तुम्हारी उत्पत्ति कैसे हुई ? पिता के बिना पुत्र की कभी

उत्पत्ति हो ही नही सकती। अत भूतकाल मे भी पिता था, ऐसा अवश्य मानना होगा। इसी तरह भूत और भविष्य काल मे नरक स्वर्ग आदि के होने वाले सुख-दुख भी अवश्य हैं। कर्मों के शुभाशुभ फलस्वरूप नरक स्वर्गादि नही है, ऐसा जो कहता है, उसका सम्यक्ज्ञान मोहवश किये हुए कर्मों से ढँका हुआ है।

मूल:—गार पि अ आवसे नरे,
अणुपुव्वं पाणेहि सजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते,
देवाण गच्छे सलोगय ॥९॥

छाया—अगारमपि चावसन्नर, आनुपूर्व्या प्राणेषु सयतः।
समता सर्वत्र सुव्रत., देवाना गच्छेत्सलोकताम् ॥९॥

अन्वयार्थ.—हे पुत्रो! (गार पि अ) घर मे (आवसे) रहता हुआ (नरे) मनुष्य भी (अणुपुव्व) जो धर्म श्रवणादि अनुक्रम से (पाणेहिं) प्राणो की (सजए) यतना करता रहता है (सव्वत्थ) सब जगह (समता) समभाव है जिसके ऐसा (सुव्वते) सुव्रतवान् गृहस्थ भी (देवाण) देवताओ के (सलोगय) लोक को (गच्छे) जाता है।

भावार्थ—हे पुत्रो! जो गृहस्थावास मे रह कर भी धर्म श्रवण करके अपनी शक्ति के अनुसार अपनो तथा परायो पर सब जगह समभाव रखता हुआ प्राणियो की हिंसा नहीं करता है वह गृहस्थ भी इस प्रकार का व्रत अच्छी तरह पालता हुआ स्वर्ग को जाता है। भविष्य मे उसके लिए मोक्ष भी निकट ही है।

॥ **श्रीसुधर्मोवाच**॥

मूलः—अभविंसु पुरा वि भिक्खुवो,
आएसा वि भवति सुव्वता।
एयाइ गुणाइ आहु ते,
कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥१०॥

छाया—अभवत् पुराऽपि भिक्षव, आगमिष्या अपि सुव्रता.।
एतान् गुणानाहुरते, काश्यपस्यानुधर्मचारिण: ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे (भिक्खुवो) भिक्षुओ ! (पुरा) पहले (अभविसु) हुए जो (वि) और (आएसा वि) भविष्यत् मे होगे, वे सब (सुव्वता) सुव्रती होने से जिन (भवति) होते है। (ते) वे सब जिन (एयाइ) इन (गुणाइ) गुणो को एकसे (आहु) कहते है। क्योकि, (कासवस्स) महावीर भगवान के (अणुधम्मचारिणो) वे धर्मानुचारी है।

भावार्थः—हे भिक्षुओ ! जो बीते हुए काल मे तीर्थंकर हुए हे, उनके और भविष्यत् मे होगे उन सभी तीर्थंकरो के कथनो मे अन्तर नही होता है। सभी का मन्तव्य एक ही सा है। क्योकि वे सुव्रती होने से राग द्वेष रहित जो जिनपद है, उसको प्राप्त कर लेते है और सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते है। इसी से ऋषभदेव और भगवान् महावीर आदि सभी "ज्ञान-दर्शन-चारित्र से मुक्ति होती है," ऐसा एक ही सा कथन करते है।

॥ **श्रीऋषभोवाच** ॥

मूलः—तिविहेण वि पाण मा हणे,
आयहिते अणियाण सवुडे।
एवं सिद्धा अणंतसो,
संपइ जे अणागयावरे ॥११॥

छाया·—त्रिविधेनापि प्राणान् मा हन्यात्,
आत्महितोऽनिदान सवृत ।
एव सिद्धा अनन्तश·,
संप्रति ये अनागत अपरे ॥११॥

अन्वयार्थ—हे पुत्रो ! (जे) जो (आयहिते) आत्म-हित के लिए (तिविहेण वि) मन, वचन, कर्म से (पाण) प्राणो को (मा हणे) नही हनते (अणियाण) निदान रहित (सवुडे) इन्द्रियों को गोपे (एवं) इस प्रकार का जीवन करने से

(अणतसो) अनन्त (सिद्धा) मोक्ष गये हैं और (सम्पइ) वर्तमान मे जा रहे हैं (अणागयावरे) और अनागत अर्थात् भविष्यत् मे जावेंगे।

भावार्थः—हे पुत्रो! जो आत्म-हित के लिए एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यंत प्राणी मात्र की मन, वचन, और कर्म से हिंसा नही करते हैं, और अपनी इन्द्रियो को विषय वासना की ओर घूमने नही देते हैं, बस, इसी व्रत के पालन करते रहने से भूत काल मे अनन्त जीव मोक्ष पहुँचे हैं। और वर्तमान मे जा रहे हैं। इसी तरह भविष्यत् काल मे भी जावेंगे।

।। श्रीभगवानुवाच ।।

मूलः—सबुज्झहा जतवो माणुसत्त,
दट्ठु भय वालिसेणं अलभो।
एगतदुक्खे जरिए व लोए,
सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ।।१२।।

छाया—सबुध्यध्वम् जन्तव! मानुषत्व,
दृष्ट्वा भय बालिशेनालभ।
एकान्त दु खाज्ज्वरित इव लोक,
स्वकर्मणा विपर्यासमुवैति ।।१२।।

अन्वयार्थः—(जतवो) हे मनुजो! तुम (माणुसत्त) मनुष्यता को (सबुज्झहा) अच्छी तरह जानो। (भय) नरकादि भय को (दट्ठु) देख कर (वालिसेण) मूर्खता के कारण विवेक को (अलभो) जो प्राप्त नही करता वह (सकम्मुणा) अपने किये हुए कर्मों के द्वारा (जरिए) ज्वर से पीडित मनुष्यो की भाँति (एगत दुक्खे) एकान्त दुख युक्त (लोए) लोक मे (विप्परियासुवेइ) पुन पुन. जन्म-मरण को प्राप्त होता है।

भावार्थः—हे मनुजो! दुर्लभ मनुष्य भव को प्राप्त करके फिर भी जो सम्यक्-ज्ञान आदि को प्राप्त नही करते हैं, और नरकादि के नाना प्रकार के दुख रूप भयो के होते हुए भी मूर्खता के कारण विवेक को प्राप्त नही करते हैं, वे अपने किये हुए कर्मों के द्वारा ज्वर से पीडित मनुष्यो की तरह एकान्त दुखकारी जो यह लोक है, इसमे पुन-पुन जन्म-मरण को प्राप्त करते हैं।

मूल—जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१३॥

छाया:—यथा कूर्मः स्वाङ्गानि स्वदेहे समाहरेत्।
एव पापानि मेधावी, अध्यात्मना समाहरेत् ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे आर्य ! (जहा) जैसे (कुम्मे) कछुआ (सअगाइ) अपने अंगोपागो को (सए) अपने (देहे) शरीर मे (समाहरे) सिकोड लेता है (एव) इसी तरह (मेधावी) पण्डित जन (पावाइं) पापो को (अज्झप्पेण) अध्यात्म ज्ञान से (समाहरे) सहार कर लेते हैं।

भावार्थः—हे आर्य! जैसे कछुआ अपना अहित होता हुआ देख कर अपने अगोपागो को अपने शरीर मे सिकोड लेता है, इसी तरह पण्डित जन भी विषयो की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियो को आध्यात्मिक ज्ञान से सकुचित कर रखते है।

मूलः—साहरे हत्थपाए य, मणं पंचेन्दियाणि य।
पावकं च परीणामं, भासा दोस च तारिस ॥१४॥

छाया—संहरेत् हस्तपादौ वा, मनः पञ्चेन्द्रियाणि च।
पापक च परीणाम भाषादोषं च तादृशम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—हे आर्य! (तारिस) कछुवे की तरह ज्ञानी जन (हत्थपाए य) हाथ और पावो की व्यर्थ चलन क्रिया को (मण) मन की चपलता को (य) और (पचेन्दियाणि) विषय की ओर घूमती हुई पांचो ही इन्द्रियो को (च) और (पावक) पाप के हेतु (परीणाम) आने वाले अभिप्राय को (च) और (भासादोस) सावद्य भाषा बोलने को (साहरे) रोक रखते हैं।

भावार्थः—हे आर्य! जो ज्ञानी जन है, वे कछुए की तरह अपने हाथ-पावो को सकुचित रखते है। अर्थात् उनके द्वारा पाप कर्म नही करते है। और पापो की ओर घूमते हुए इस मन के वेग को रोकते हैं। विषयो की ओर इन्द्रियो को झांकने तक नही देते हैं। और बुरे भावो को हृदय मे नही आने देते। और जिस भाषा से दूसरो का बुरा होता हो, ऐसी भाषा भी कभी नहीं बोलते है।

मूल—एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचणं ।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं वियाणिया ॥१५॥

छाया:—एतत् खलु ज्ञानिनः सारं, यन्न हिंस्यति कञ्चनम् ।
अहिंसा समयं चैव, एतावती विज्ञानिता ॥१५॥

अन्वयार्थ—हे आर्य ! (खु) निश्चय करके (णाणिणो) ज्ञानियों का (एयं) यह (सारं) तत्त्व है, कि (जं) जो (कंचणं) किसी भी जीव की (न) नहीं (हिंसति) हिंसा करते (अहिंसा) अहिंसा (चेव) ही (समयं) शास्त्रीय तत्त्व है (एतावंतं) बस, इतना ही (वियाणिया) विज्ञान है। वह यथेष्ट ज्ञानीजन है।

भावार्थ—हे आर्य ! ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उन ज्ञानियों का सार-भूत तत्त्व यही है, कि वे किसी जीव की हिंसा नहीं करते। वे अहिंसा ही को शास्त्रीय प्रधान विषय समझते हैं। वास्तव में इतना जिसे सम्यक् ज्ञान है वही यथेष्ट ज्ञानीजन है। बहुत अधिक ज्ञान सम्पादन करके भी यदि हिंसा को न छोड़े, तो उनका विशेष ज्ञान भी अज्ञान रूप है।

मूलः—संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं,
पावाउ अप्पाणं निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥१६॥

छाया—संबुद्ध्यमानस्तु नरो मतिमान्, पापादात्मानं निवर्त्तयेत् ।
हिंसाप्रसूतानि दुःखानि मत्वा, वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे आर्य ! (संबुज्झमाणे) तत्त्वों को जानने वाला (मतीमं) बुद्धिमान् (णरे) मनुष्य (हिंसप्पसूयाइं) हिंसा से उत्पन्न होने वाले (दुहाइं) दुखों को (वेराणुबंधीणि) कर्मबंधहेतु (महब्भयाणि) महाभयकारी (मत्ता) मान कर (पावाउ) पापसे (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (निवट्टएज्जा) निवृत करते रहते हैं।

भावार्थ—हे आर्य ! बुद्धिमान् मनुष्य वही है, जो सम्यक्ज्ञान को प्राप्त करता हुआ, हिंसा से उत्पन्न होने वाले दुखों को कर्म बंध का हेतु और महाभय-कारी मान कर, पापों से अपनी आत्मा को दूर रखता है।

मूल —आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुन्नमणेलिसं ॥१७॥

छाया —आत्मगुप्त सदा दान्त· छिन्न शोकोऽनाश्रवः।
यो धर्म शुद्धमाख्याति, प्रतिपूर्णमनीदृशम् ॥१७॥

अन्वयार्थ·—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (आयगुत्ते) आत्मा को गोपता हो, (सया) हमेशा (दते) इन्द्रियो का दमन करता हो (छिन्नसोए) ससार के स्रोतो को मू दने वाला या इष्ट वियोग आदि के शोक से रहित और (अणासवे) नूतन कर्म वधन रहित जो पुरुष हो, वह (पडिपुन्न) परिपूर्ण (अणेलिस) अनन्य (सुद्ध) शुद्ध (धम्म) धर्म को (अक्खाति) कहता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो अपनी आत्मा का दमन करता है, इन्द्रियो के विषयो के साथ जो विजय को प्राप्त करता है, ससार मे परिभ्रमण करने के हेतुओ को नष्ट कर डालता है, और नवीन कर्मो का बध नही करता है, अथवा इष्ट वियोग और अनिष्ट सयोग आदि होने पर भी जो शोक नही करता-समभावी बना रहता है, वही ज्ञानी जन हितकारी धर्म मूलक तत्त्वो को कहता है।

मूलः—न कम्मुणा कम्म खवेति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेति धीरा।
मेधाविणो लोभमयावतीता,
सतोसिणो नो पकरेति पावं ॥१८॥

छायाः—न कर्मणा कर्म क्षपयन्तिबालाः,
अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीराः।
मेधाविनो लोभमदव्यतीता·,
सन्तोषिणो नोपकुर्वन्ति पापम् ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (बाला) जो अज्ञानी जन हैं वे (कम्मुणा) हिंसादि कामो से (कम्म) कर्म को (न) नहीं (खवेंति) नष्ट करते हैं, किन्तु (धीरो) बुद्धिमान् मनुष्य (अकम्मुणा) अहिंसादिको से (कम्म) कर्म (खवेंति)

नष्ट करते हैं, (मेधाविणो) बुद्धिमान् (लोभमया) लोभ तथा मद से (वतीता) रहित (सतोसिणो) सतोषी होते हैं, वे (पाव) पाप (नो पकरेंति) नहीं करते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! हिंसादि के द्वारा पूर्व-सचित कर्मों को हिंसादि ही से जो अज्ञानी जीव नष्ट करना चाहते हैं, यह उनकी भूल है। प्रत्युत कर्मनाश के बदले उनके गाढ कर्मो का बध होता है। क्योकि खून से भीगा हुआ कपडा खून ही के द्वारा कभी साफ नही होता है, बुद्धिमान् तो वही हैं, जो हिंसादि के द्वारा बँधे हुए कर्मों को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, आकिंचन्य आदि के द्वारा नष्ट करते हैं। और वे लोभ और मद से रहित हो कर सतोषी हो जाते हैं। वे फिर भविष्यत् मे नवीन पाप कर्म नही करते हैं। यहा 'लोभ' शब्द राग का सूचक और 'मद' द्वेष का सूचक है। अतएव लोभ-मया शब्द का अर्थ राग-द्वेष समझना चाहिए।

मूल—डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते आत्तओ पासइ सव्वलोए।
उव्वेहती लोगमिण महत,
बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥१६॥

छायाः—डिभश्च प्राणो वृद्धश्च प्राण,
स आत्मवत् पश्यति सर्वलोकान्।
उत्प्रेक्षते लोकमिम महान्तम्,
बुद्धोऽप्रमत्तेषु परिव्रजेत् ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (डहरे) छोटे (पाणे) प्राणी (य) और (बुड्ढे) वडे (पाणे) प्राणी (ते) उन सभी को (सव्वलोए) सर्व लोक मे (आत्तओ) आत्मवत् (पासइ) जो देखता है (इण) इस (लोग) लोक को (महत) बडा (उव्वेहती) देखता है (बुद्धे) वह तत्त्वज्ञ (अपमत्तेसु) आलस्य रहित संयम मे (परिव्वएजा) गमन करता है।

भावार्थ—हे गौतम ! चीटियाँ, मकोडे, कुथुवे, आदि छोटे-छोटे प्राणी और गाय, भैंस, हाथी, वकरा आदि वडे-वडे प्राणी आदि सभी को अपने आत्मा के समान जो समझता है और महान् लोक को चराचर जीव के जन्म-मरण से अशाश्वत देख कर जो बुद्धिमान् मनुष्य सयम मे रत रहता है वही मोक्ष मे पहुँचने का अधिकारी है ।

॥इति चतुर्दशोऽध्याय ॥

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय पन्द्रहवां)

मनोनिग्रह

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूल.—एगे जिए जिया पच, पच जिए जिया दस ।
दसहा उ ज़िणित्ताण, सव्वसत्तू जिणामहं ॥१॥

छाया:— एकस्मिन् जिते जिता पञ्च, पचसु जितेषु जिता दश ।
दशधा तु जित्वा, सर्वशत्रून् जयाम्यहम् ॥१॥

अन्वयार्थ—हे मुनि ! (एगे) एक मन को (जिए) जीतने पर (पच) पांचो इन्द्रियां (जिया) जीत ली जाती हैं और (पच) पांच इन्द्रियां (जिए) जीतने पर (दस) एक मन पांच इन्द्रिया और चार कषाय, यो दसों जिया) जीत लिये जाते हैं। (दसहा उ) दशो को (जिणित्ता) जीत कर (ण) वाक्यालकार (सव्व-सत्तू) सभी शत्रुओं को (महं) मैं (जिणा) जीत लेता हूं।

भावार्थः—हे मुनि ! एक मन को जीत लेने पर पांचो इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करली जाती है। और पांचो इन्द्रियो को जीत लेने पर एक मन पांच इन्द्रियां और क्रोध, मान, माया, लोभ ये दशो ही जीत लिये जाते हैं। और, इन दशो को जीत लेने से, सभी शत्रुओ को जीता जा सकता है। इसीलिए सब मुनि और गृहस्थो के लिए एक वार मन को जीत लेना श्रेयस्कर है।

मूल—मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
त सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं ॥२॥

छायाः— मनः साहसिको भीम दुष्टाश्वः परिधावति ।
त सम्यक् तु निगृह्णामि, धर्मशिक्षायै कन्थकम् ॥२॥

अन्वयार्थः—हे मुनि (मणो) मन बड़ा (साहसिओ) साहसिक और (भीमो) भयकर (दुट्ठस्स) दुष्ट घोडे की तरह इधर-उधर (परिधावई) दौडता है (त) उसको (धम्मसिक्खाइ) धर्म रूप शिक्षा से (कथग) जातिवत अश्व की तरह (सम्म) सम्यक् प्रकार से (निगिण्हामि) ग्रहण करता हूं ।

भावार्थः—हे मुनि ! यह मन अनर्थों के करने मे बडा साहसिक और भयकर है । जिस प्रकार दुष्ट घोडा इधर-उधर दौडता है, उसी तरह यह मन भी ज्ञान रूप लगाम के विना इधर-उधर चक्कर मारता फिरता है । ऐसे इस मन को धर्म रूप शिक्षा से जातिवत घोडे की तरह मैंने निग्रह कर रक्खा है । इसी तरह सब मुनियो को चाहिए, कि वे ज्ञानरूप लगाम से इस मन को निग्रह करते रहे ।

मूल.—सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा य, मणगुत्ती चउव्विहा ॥३॥

छायाः—सत्या तथैव मृपा च, सत्यामृपा तथैव च ।
चतुर्थ्यसत्यामृपा तु, मनोगुप्तिश्चतुर्विधा ॥३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (मणगुत्ती) मन गुप्ति (चउव्विहा) चार प्रकार की है । (सच्चा) सत्य (तहेव) तथा (मोसा) मृषा (य) और (सच्चामोसा) सत्यमृषा (य) और (तहेव) वैसे ही (चउत्थी) चौथी (असच्चमोसा) असत्यमृषा है ।

भावार्थः—हे गौतम ! मन चारो ओर घूमता रहता है । (१) सत्य विषय मे, (२) असत्य विषय मे, (३) कुछ सत्य और कुछ असत्य विषय मे, (४) सत्य भी नही, असत्य भी नही ऐसे असत्यमृषा विषय मे प्रवृत्ति करता है । जब यह मन असत्य, कुछ सत्य और कुछ असत्य, इन दो विभागो मे प्रवृत्ति करता है तो महान् अनर्थों को उपार्जन करता है । उन अनर्थों के भार से आत्मा अधोगति मे जाती है । अतएव असत्य और मिश्र की ओर घूमते हुए इस मन को निग्रह करके रखना चाहिए ।

मूलः—सरभसमारभे, आरभम्मिय तहेव य।
मण पवत्तमाण तु, निअत्तिज्ज जय जई ॥४॥

छायाः—सरभे समारभे आरम्भे च तथैव च।
मन प्रवर्त्तमान तु, निवर्तयेद्यत यति ॥४॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (जय) यत्नवान् (जई) यति (सरभसमारंभे) किसी को मारने के सम्बन्ध मे और पीडा देने के सम्बन्ध मे (य) और (तहेव) वैसे ही (आरम्भम्मि) हिंसक परिणाम के विषय मे (पवत्तमाण तु) प्रवृत्त होते हुए (मण) मन को (निअत्तिज्ज[१]) निवृत्त करना चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम! यत्नवान् साधु हो, या गृहस्थ हो, चाहे जो हो, किन्तु मन के द्वारा कभी भी ऐसा विचार तक न करे, कि अमुक को मार डालूं या उसे किसी तरह पीडित कर दूं। तथा उसका सर्वस्व नष्ट कर डालूं। क्योकि मन के द्वारा ऐसा विचार मात्र कर लेने से वह आत्मा महापातकी बन जाता है। अतएव हिंसक अशुभ परिणामो की ओर जाते हुए इस मन को पीछा घुमाओ, और निग्रह करके रक्खो। इसी तरह कर्म बन्धने की ओर घूमते हुए, वचन और काया को भी निग्रह करके रक्खो।

मूल—वत्थगधमलकार, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजति, न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥५॥

छाया—वस्त्रगन्धमलङ्कार, स्त्रिय. शयनानि च।
अच्छन्दा ये न भुञ्जन्ति, न ते त्यागिन इत्युच्यते ॥५॥

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति! (वत्थगधमलकार) वस्त्र, सुगध, भूषण (इत्थीओ) स्त्रियो (य) और (सयणाणि) शय्या वगैरह को (अच्छदा) पराधीन होने से (जे) जो (न) नही (भुजति) भोगते हैं (से) वे (चाइ) त्यागी (न) नही (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है।

---

(१) नियतिज्ज ऐसा भी कहीं-कहीं आता है, ये दोनो शुद्ध हैं। क्योकि क ग च द आदि वर्णो, का लोप करने से "अ" अवशेष रह जाता है। उस जगह 'अवर्णो य श्रुति" इस सूत्र से "अ" की जगह "य" का आदेश होता है ऐसा अन्यत्र भी समझ लें।

भावार्थ—हे आर्य ! सम्पूर्ण परित्याग अवस्था मे, या गृहस्थ की सामायिक अथवा पौषध अवस्था मे, अथवा त्याग होने पर कई प्रकार के बढिया वस्त्र, सुगध, इत्र, आदि भूषण वगैरह एव स्त्रियो और शय्या आदि के सेवन करने की जो मन द्वारा केवल इच्छा मात्र ही करता है, परन्तु उन वस्तुओ को पराधीन होने से भोग नही सकता है, उसे त्यागी नही कहते है, क्योकि उसकी इच्छा नही मिटी, वह मानसिक त्यागी नही बना है।

मूल:—जे य कते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥६॥

छाया—यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धानपि वि पृष्ठीकुरुते।
स्वाधीनान् त्यजति भोगान्, स हि त्यागीत्युच्यते ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (कते) सुन्दर (पिए) मन मोहक (लद्धे) पाये हुए (भोए) भोगो को (वि) भी (जे) जो (पिट्ठिकुव्वइ) पीठ दे देवें, यही नही, जो (भोए) भोग (साहीणे) स्वाधीन है उन्हे (चयई) छोड देता है। (हु) निश्चय (से) वह (चाइ) त्यागी है त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहते है।

भावार्थ—हे गौतम ! जो गृहस्थाश्रम मे रह रहा है, उसको सुन्दर और प्रिय भोग प्राप्त होने पर भी उन भोगो से उदासीन रहता है, अर्थात् अलिप्त रहता हुआ उन भोगो को पीठ दे देता है, यही नही, स्वाधीन होते हुए भी उन भोगो का परित्याग करता है। वही निश्चय रूप से सच्चा त्यागी है ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।

मूल.—समाए पेहाए परिव्वयंतो,
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
"न सा महं नो वि अहं पि तीसे,"
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥७॥

छायाः—समया प्रेक्षया परिव्रजतः, स्यान्मनो निःसरति बहिः।
न सा मम नोऽप्यहं तस्याः, इत्येव तस्या विनयेत रागम् ॥७॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (समाए) समभाव से (पेहाए) देखता हुआ जो (परिव्वयतो) सदाचार सेवन मे रमण करता है। उस समय (सिया) कदाचित् (मणो) मन उसका (बहिद्धा) सयम जीवन से बाहर (निस्सरई) निकल जाय तो विचार करे, कि (सा) वह (मह) मेरी (न) नही है। और (अह पि) मैं भी (तीसे) उस का (नो वि) नही हूँ। (इच्चेव) इस प्रकार विचार कर (ताओ) उस से (राग) स्नेह भाव को (विणएज्ज) दूर करना चाहिए।

भावार्थ —हे आर्य ! सभी जीवो पर समदृष्टि रख कर आत्मिक ज्ञानादि गुणो मे रमण करते हुए भी प्रमादवश यह मन कभी-कभी सयमी जीवन से बाहर निकल जाता है, क्योकि हे गौतम ! यह मन बडा चचल है, वायु की गति से भी अधिक तीव्र गतिमान् है, अत. जब ससार के मन मोहक पदार्थों की ओर यह मन चला जाय, उस समय यो विचार करना चाहिए, कि मन की यह धृष्टता है, जो सासारिक प्रपच की ओर घूमता है। स्त्री, पुत्र, धन वगैरह सम्पत्ति मेरी नही है और मैं भी उनका नही हूँ। ऐसा विचार कर उस सम्पत्ति से स्नेह भाव को दूर करना चाहिए। जो इस प्रकार मन को निग्रह करता है, वही उत्तम मनुष्य है।

मूल —पाणिवहमुसावायाअदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ, जीवो होइ अणासवो ॥८॥

छाया —प्राणिवधमृषावाद—अदत्तमैथुनपरिग्रहेभ्यो विरत·।
रात्रिभोजनविरत, जीवो भवति अनाश्रवः ॥८॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (जीवो) जो जीव (पाणिवहमुसावाया) प्राणवध, मृषावाद (अदत्तमेहुणपरिग्गाहा) चोरी, मैथुन और ममत्व से (विरओ) विरक्त रहता है। और (राइभोयण विरओ) रात्रि भोजन से भी विरक्त रहता है, वह (अणासवो) अनाश्रवी (होइ) होता है।

भावार्थ —हे गौतम ! आत्मा ने चाहे जिस जाति व कुल मे जन्म लिया हो, अगर वह हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, ममत्व और रात्रि भोजन से पृथक् रहती हो तो वही आत्मा अनाश्रव[1] होती है। अर्थात् उसके भावी नवीन

---

१ Free from the influx of karma.

पाप रुक जाते हैं। और जो पूर्व भवो के सचित कर्म है, वे यहाँ भोग करके नष्ट कर दिये जाते है।

मूलः—जहा महातलागस्स, संनिरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए, कमेण सोसणा भवे ॥९॥

छाया—यथा महातडागस्य, सन्निरुद्धे जलागमे।
उत्सिचनेन तपनेन, क्रमेण शोपणा भवेत् ॥९॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (जहा) जैसे (महातलागस्स) वडे भारी एक तालाव के (जलागमे) जल के आने के मार्ग को (सन्निरुद्धे) रोक देने पर, फिर उसमे का रहा हुआ पानी (उस्सिचणाए) उलीचने से तथा (तवणाए) सूर्य के आतप से (कमेण) क्रमश (सोसणा) उसका शोषण (भवे) होता है।

भावार्थः—हे आर्य! जिस प्रकार एक वडे भारी तालाव का जल आने के मार्ग को रोक देने पर नवीन जल उस तालाव मे नही आ सकता है। फिर उस तालाव मे रहे हुए जल को किसी प्रकार उलीच कर वाहर निकाल देने से अथवा सूर्य के आतप से क्रमश वह सरोवर सूख जाता है। अर्थात् फिर उस तालाब मे पानी नहीं रह सकता है।

मूल—एव तु सजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।
भवकोडिसचिय कम्म, तवसा निज्जरिज्जइ ॥१०॥

छाया—एव तु सयतस्यापि, पापकर्मनिराश्रवे।
भवकोटिसञ्चित कर्म, तपसा निर्जीर्यते ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (एव) इस प्रकार (पावकम्मनिरासवे) जिसके नवीन पाप कर्मो का आना रुक गया है, ऐसे (सजयस्सावि) संयमी जीवन बिताने वाले के (भवकोडिसचिय) करोडो भवो के पूर्वोपार्जित (कम्म) कर्म (तवसा) तप द्वारा (निज्जरिज्जइ) क्षय हो जाते हैं।

भावार्थ—हे गौतम! जैसे तालाब मे नवीन आते हुए पानी को रोक कर पहले के पानी को उलीचने से तथा आतप से उसका शोषण हो जाता है। इसी तरह संयमी जीवन बिताने वाला यह जीव भी हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार,

और ममत्व द्वारा आते हुए पाप को रोक कर, जो करोड़ो भवो मे पहले सचित किये हुए कर्म हैं उनको तपस्या द्वारा क्षय कर लेता है। तात्पर्य यह है कि आगामी कर्मों का सवर और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ही कर्म क्षय-मोक्ष-का कारण है।

मूलः—सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भितरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भितरो तवो ॥११॥

छाया—तत्तपो द्विविधमुक्त, बाह्यमाभ्यन्तर तथा।
बाह्य षड्विधमुक्त, एवमाभ्यन्तर तप ॥११॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (सो) वह (तवो) तप (दुविहो) दो प्रकार का (वुत्तो) कहा गया है। (बाहिरब्भितरो तहा) बाह्य तथा आभ्यन्तर (बाहिरो) बाह्य तप (छव्विहो) छ प्रकार का (वुत्तो) कहा है। (एव) इसी प्रकार (अब्भितरो) आभ्यन्तर (तवो) तप भी है।

भावार्थ—हे आर्य! जिस तप से, पूर्व सचित कर्म नष्ट किए जाते हैं, वह तप दो प्रकार का है। एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य के छ प्रकार हैं। इसी तरह आभ्यन्तर के भी छ प्रकार हैं।

मूल—अणसणमूणोयरिया,
भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो सलीयणा,
य बज्झो तवो होई ॥२२॥

छाया—अनशनमूनोदरिका, भिक्षाचर्या च रसपरित्याग.।
कायक्लेश सलीनता च, वाह्य तपो भवति ॥१२॥

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति! वाह्य तप के छ भेद यो हैं—(अणसणमूणोयरिया) अनशन, ऊनोदरिका (य) और (भिक्खायरिया) भिक्षाचर्या (रसपरिच्चाओ) रसपरित्याग (कायकिलेसो) काय क्लेश (य) और (सलीणया)

इन्द्रियो को वश मे करना। यह छ· प्रकार का (वज्झो) वाह्य (तवो) तप (होइ) है।

भावार्थ—हे गौतम ! एक दिन, दो दिन यो छ छ. महीने तक भोजन का परित्याग करना, या सर्वथा प्रकार से भोजन का परित्याग करके सथारा कर ले उसे अनशन[1] तप कहते हैं। भूख सहन कर कुछ कम खाना, उसको ऊनोदरी तप कहते हैं। अनैमित्तिक भोजी होकर नियमानुकूल मांग करके भोजन खाना वह भिक्षाचर्या नाम का तप है, घी, दूध, दही, तेल और मिष्टान्न आदि का परित्याग करना, वह रस परित्याग तप है। शीत व ताप आदि को सहन करना काय क्लेश नाम का तप है। और पांचो इन्द्रियो को वश मे करना एव क्रोध, मान, माया, लोभ पर विजय प्राप्त करना, मन-वचन-काया के अशुभ योगो को रोकना यह छठा सलीनता तप है। इस तरह वाह्य तप के द्वारा आत्मा अपने पूर्व सचित कर्मों का क्षय कर सकती है।

मूल:—पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्च तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भितरो तवो ॥१३॥

छाया—प्रायश्चित्त विनय., वैयावृत्य तथैव स्वाध्याय·।
ध्यान च व्युत्सर्ग., एतदाभ्यन्तर तप ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! आभ्यन्तर तप के छ भेद यो है। (पायच्छित्त) प्रायश्चित्त (विणओ) विनय (वेयावच्च) वैयावृत्य (तहेव) वैसे ही (सज्झाओ) स्वाध्याय (झाणो) ध्यान (च) और (विउस्सग्गो) व्युत्सर्ग (एसो) यह (अब्भितरो) आभ्यन्तर (तवो) तप है।

भावार्थ—हे आर्य ! यदि भूल से कोई गलती हो गयी हो तो उसकी आलोचक के पास आलोचना करके शिक्षा ग्रहण करना, इसको प्रायश्चित्त तप कहते है। विनम्र भावो मय अपना रहन-सहन बना लेना, यह विनय तप कहलाता है। सेवाधर्म के महत्त्व को समझकर सेवाधर्म का सेवन करना वैयावृत्य नामक तप है, इसी तरह शास्त्रो का मननपूर्वक पठन-पाठन करना स्वाध्याय तप है। शास्त्रो मे बताये हुए तत्त्वो का बारीक दृष्टि से मननपूर्वक

१ Giving up food and water for some time or permanently

चिन्तवन करना ध्यान तप कहलाता है, और शरीर से सर्वथा ममत्व को परित्याग कर देना यह छठा व्युत्सर्ग तप है। यो ये छ प्रकार के आभ्यन्तर तप हैं। इन बारह प्रकार के तप मे से, जितने भी बन सकें, उतने प्रकार के तप करके पूर्व सचित करोडो जन्मों के कर्मों को यह जीव सहज ही मे नष्ट कर सकता है।

मूलः—रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व,
अकालिअ पावइ से विणास।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोअलोले समुवेइ मच्चु ॥१४॥

छाया—रूपेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रा,
अकालिक प्राप्नोति स विनाशम्
रागातुर स यथा वा पतङ्ग,
आलोकलोल समुपेति मृत्युम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (जो) जो प्राणी (रूवेसु) रूप देखने मे (गिद्धि) गृद्धि को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालिअ) असमय (तिव्व) शीघ्र ही (विणास) विनाश को (पावइ) पाता है (जह वा) जैसे (आलोअलोले) देखने मे लोलुप (से) वह (पयगे) पतग (रागाउरे) रागातुर (मच्चु) मृत्यु को (समुवेइ) प्राप्त होता है।

भावार्थः—हे गौतम! जैसे देखने का लोलुपी पतग जलते हुए दीपक की लौ पर गिर कर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है। वैसे ही जो आत्मा इन चक्षुओ के वशवर्ती हो विषय सेवन मे अत्यन्त लोलुप हो जाती है, वह शीघ्र ही असमय मे अपने प्राणों से हाथ धो बैठती है।

मूल—सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअ पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिए व्व मुद्धे,
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥१५॥

छाया—शब्देषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रा,
अकालिक प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरो हरिणमृग इव मुग्धः,
शब्देऽतृप्त. समुपैति मृत्युम् ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (व्व) जैसे (रागाउरे) रागातुर (मुद्धे) मुग्ध (सद्दे) शब्द के विषय से (अतित्ते) आतृप्त (हरिणमिए) हरिण (मच्चु) मृत्यु को (समुवेइ) प्राप्त होता है, वैसे ही (जो) जो आत्मा (सद्देसु) शब्द विषयक (गिद्धि) गृद्धि को (मुवेइ) प्राप्त होती है (से) वह (अकालिअ) असमय मे (तिव्व) शीघ्र ही (विणास) विनाश को (पावइ) पाती है ।

भावार्थः—हे आर्य ! राग भाव मे लवलीन, हित-अहित का अनभिज्ञ, श्रोत्रेन्द्रिय के विषय मे अतृप्त ऐसा जो हिरण है वह केवल श्रोत्रेन्द्रिय के वश-वर्ती होकर अपना प्राण खो बैठता है । उसी तरह जो आत्मा श्रोत्रेन्द्रिय के विषय मे लोलुप होती है, वह शीघ्र ही असमय मे मृत्यु को प्राप्त हो जाती है ।

मूलः—गधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व,
अकालिअ पावइ से विणास ।
रागाउरे ओसहिगधगिद्धे,
सप्पे बिलाओ विव निक्खमते ॥१६॥

छायाः—गन्धेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रा,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुर औषधगधगृद्धः,
सर्पो बिलान्निव नि.क्रामन् ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (ओसहिगध गिद्धे) नाग दमनी औषध की गध मे मग्न (रागाउरे) रागातुर (सप्पे) सर्प (बिलाओ) बिल से बाहर (नक्खमते) निकलने पर नष्ट हो जाता है (विव) ऐसे ही (जो) जो जीव (गधेसु) गध मे (गिद्धि) गृद्धिपने को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालिअ) असमय ही (तिव्व) शीघ्र (विणासं) विनाश को (पावइ) प्राप्त होता है ।

भावार्थ —हे गौतम ! जैसे नागदमनी गध का लोलुप ऐसा जो रागातुर सर्प है, वह अपने बिल से बाहर निकलने पर मृत्यु को प्राप्त होता है। वैसे ही जो जीव गध विषयक पदार्थों मे लीन हो जाता है, वह शीघ्र ही असमय मे अपनी आयु का अन्त कर बैठता है।

मूल —रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व,
अकालिअ पावइ से विणास ।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए,
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥१७॥

छाया —रसेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रा,
अकालिक प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरो बडिशविभिन्नकाय:,
मत्स्यो यथाऽऽमिषभोगगृद्धः ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (आमिस-भोगगिद्धे) मांस भक्षण के स्वाद मे लोलुप ऐसा (रागाउरे) रागातुर (मच्छे) मच्छ (बडिसविभिन्न-काए) मांस या आटा लगा हुआ ऐसा जो तीक्ष्ण कांटा उससे बिंधकर नष्ट हो जाता है। ऐसे ही (जो) जो जीव (रसेसु) रस मे (गिद्धि) गृद्धिपन को (उवेइ) प्राप्त होता है, (से) वह (अकालिअ) असमय मे ही (तिव्व) शीघ्र (विणास) विनाश को (पावइ) प्राप्त होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार मांस भक्षण के स्वाद मे लोलुप जो रागातुर मच्छ है वह मरणावस्था को प्राप्त होता है। ऐसे ही जो आत्मा इन रसेन्द्रिय के वशवर्ती होकर अत्यन्त गृद्धिपन को प्राप्त होती है वह असमय ही मे द्रव्य और भाव प्राणों से रहित हो जाता है।

मूल —फासस्स जो गिद्धिमुवेइ तिव्व,
अकालिअ पावइ से विणास ।
रागाउरे सीयजलावसन्ने,
गाहग्गहीए महिसे व रण्णे ॥१८॥

छाया:—स्पर्शेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां,
अकालिक प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरः शीतजलावसन्नः
ग्राहा गृहीतो महिष इवारण्ये ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (व) जैसे (रण्णे) अरण्य मे (सीयजलावसन्ने) शीतजल मे बैठे रहने का प्रलोभी ऐसा जो (रागाउरे) रागातुर (महिसे) भैंसा (गाहग्गहीए) मगर के द्वारा पकड लेने पर मारा जाता है, ऐसे ही (जो) मनुष्य (फासस्स) त्वचा विषयक विषय के (गिद्धि) गृद्धि पन को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालिअ) असमय ही मे (तिव्व) शीघ्र (विणास) विनाश को (पावइ) पाता है ।

भावार्थः—जैसे बडी भारी नदी मे त्वचेन्द्रिय के वशवर्ती हो कर और शीतल जल मे बैठकर आनन्द मानने वाला वह रागातुर भैंसा मगर से जब घेरा जाता है, तो सदा के लिए अपने प्राणो से हाथ धो बैठता है । ऐसे ही जो मनुष्य अपनी त्वचेन्द्रिय जन्य विषय मे लोलुप होता है, वह शीघ्र ही असमय मे नाश को प्राप्त हो जाता है ।

हे गौतम ! जब इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय के वशवर्ती होकर भी ये प्राणी अपना प्राणान्त कर बैठते हैं, तो भला उनकी क्या गति होगी जो पाँचो इन्द्रियो को पाकर उनके विषय में लोलुप हो रहे हैं ! अत· पाँचो इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना ही मनुष्य मात्र का परम कर्त्तव्य और श्रेष्ठ धर्म है ।

॥ इति पचदशोऽध्याय: ॥

ॐ
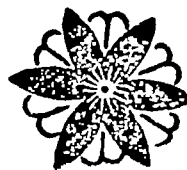
निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय सोलहवां)

आवश्यक कृत्य

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूल —समरेसु अगारेसु, सधीसु य महापहे ।
एगो एगित्थिए सद्धि, णेव चिट्ठे ण सलवे ॥१॥

छाया·—समरेषु अगारेषु, सन्धिषु च महापथे ।
एक एकस्त्रिया सार्धं, नैव तिष्ठेन्न सलपेत् ॥१॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (समरेसु) लुहार की शाला मे (अगारेसु) घरो मे (सधीसु) दो मकानो की बीच की सधि मे (य) और (महापहे) मोटे पथ मे (एगो) अकेला (एगित्थिए) अकेली स्त्री के (सद्धि) साथ (णेव) न तो (चिट्ठे) खडा ही रहे और (ण) न (सलवे) वार्तालाप करे ।

भावार्थः—हे गौतम ! लुहार की शून्य शाला मे, या पडे हुए खण्डहरों मे, तथा दो मकानो के बीच मे और जहां अनेको मार्ग आकर मिलते हों वहां अकेला पुरुष अकेली औरत के साथ न कभी खडा ही रहे और न कभी कोई उससे वार्तालाप ही करे । वे सब स्थान उपलक्षण मात्र हैं तात्पर्य यह है कि कही भी पुरुष अकेली स्त्री से वार्तालाप न करे ।

मूल —साण सूइअ गावि, दित्तं गोण हय गय ।
सडिब्भ कलहं जुद्ध, दूरओ परिवज्जए ॥२॥

छाया:—श्वान सूतिका गा, दृप्तं गोण हय गजम् ।
सडिम्भ कलह युद्ध, दूरत परिवर्जयेत् ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (साणं) श्वान (सूइअ) प्रसूता (गावि) गो (दित्त) मतवाला (गोण) बैल (हय) घोडा (गय) हाथी, इनको और (सडिम्भ) बालको के क्रीडास्थल (कलह) वाक्युद्ध की जगह (जुद्ध) शस्त्रयुद्ध की जगह आदि को (दूरओ) दूर ही से (परिवज्जए) छोड देना चाहिए ।

भावार्थः—हे आर्य ! जहाँ श्वान, प्रसूता गाय, मतवाला बैल, हाथी, घोडे खडे हो या परस्पर लड रहे हो वहाँ ज्ञानी जन को नही जाना चाहिए । इसी तरह जहाँ बालक खेल रहे हो या मनुष्यो मे परस्पर वाक्युद्ध हो रहा हो, अथवा शस्त्र-युद्ध हो रहा हो, ऐसी जगह पर जाना बुद्धिमानो के लिए दूर से ही त्याज्य है ।

मूल—एगया अचेलए होइ, सचेले आवि एगया ।
एअ धम्महिय णच्चा, णाणी णो परिदेवए ॥३॥

छाया—एकदाऽचेलको भवति, सचेलको वाप्येकदा ।
एत धर्मं हित ज्ञात्वा, ज्ञानी नो परिदेवेत ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एगया) कभी (अचेलए) वस्त्र रहित (होइ) हो (एगया) कभी (सचेलेआवि) वस्त्र सहित हो, उस समय समभाव रखना (एअ) यह (धम्महिय) धर्म हितकारी (णच्चा) जान कर (णाणी) ज्ञानी (ण) नहीं (परिदेवए) खेदित होता है ।

भावार्थः—हे गौतम ! कभी ओढने को वस्त्र हो या न हो, उस अवस्था मे समभाव से रहना, बस इसी धर्म को हितकारी जान कर योग्य वस्त्रो के होने पर अथवा वस्त्रो के होने पर अथवा वस्त्रो के बिलकुल अभाव मे या फटे टूटे वस्त्रो के सद्भाव मे ज्ञानी जन कभी खेद नही पाते ।

मूलः—अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं,
न तेसिं पडिसजले ।
सरिसो होइ बालाण,
तम्हा भिक्खू न सजले ॥४॥

छाया:—आक्रोशेत् पर भिक्षु, न तस्मै प्रतिसज्वलेत् ।
सदृशो भवति बालाना, तस्माद् भिक्षुर्न सज्वलेत् ॥४॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (परे) कोई दूसरा (भिक्खु) भिक्षु का (अक्कोसेज्जा) तिरस्कार करे (तेसिं) उस पर वह (न) न (पडिसजले) क्रोध करे, क्योकि क्रोध करने से (बालाण) मूर्ख के (सरिसो) सदृश (होइ) होता है (तम्हा) इसलिए (भिक्खू) भिक्षु (न) न (सजले) क्रोध करे ।

भावार्थ —हे आर्य ! भिक्षु या साधु या ज्ञानी वही है, जो दूसरो के द्वारा तिरस्कृत होने पर भी उन पर बदले मे क्रोध नही करता । क्योकि क्रोध करने से ज्ञानी जन भी मूर्ख के सदृश कहाता है । इसलिए बुद्धिमान् श्रेष्ठ मनुष्य को चाहिए कि वह क्रोध न करे ।

मूल —समण सजय दत,
हणेज्जा को वि कत्थइ ।
नत्थि जीवस्स नासो त्ति,
एव पेहिज्ज सजए ॥५॥

छाया —श्रमण सयत दान्त, हन्यात् कोऽपि कुत्रचित् ।
नास्ति जीवस्य नाश इति, एव प्रेक्षेत सयत ॥५॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (को वि) कोई भी मनुष्य (कत्थइ) कही पर (सजय) जीवो की रक्षा करने वाले (दत) इन्द्रियो को दमन करने वाले (समण) तपस्वियो को (हणेज्जा) ताडना करे, उस समय (जीवस्स) जीव का (नासो) नाश (नत्थि) नहीं है (एव) इस प्रकार (सजए) वह तपस्वी (पेहिज्ज) विचार करे ।

भावार्थ —हे गौतम ! सम्पूर्ण जीवो की रक्षा करने वाले तथा इन्द्रिय और मन को जीतने वाले, ऐसे तपस्वी ज्ञानी जनो को कोई मूर्ख मनुष्य कही पर ताडना आदि करे तो उस समय वे ज्ञानी यो विचार करें कि जीव का तो नाश होता ही नहीं है । फिर किसी के ताडने पर व्यर्थ ही क्रोध क्यो करना चाहिए ।

मूल:—बालाण अकामं तु, मरण असइं भवे ।
पडिआणं सकाम तु, उक्कोसेण सइ भवे ॥६॥

छाया—बालानामकाम तु, मरणमसकृद् भवेत् ।
पण्डितानां सकामं तु, उत्कर्षेण सकृद् भवेत् ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (बालाणं) अज्ञानियो का (अकाम) निष्काम (मरण) मरण (तु) तो (असइ) बार बार (भवे) होता है । (तु) और (पडिआण) पण्डितो का (सकाम) इच्छा सहित (मरण) मरण (उक्कोसेण) उत्कृष्ट (सइ) एक बार (भवे) होता है ।

भावार्थ—हे गौतम ! दुष्कर्म करने वाले अज्ञानियो को तो बार-बार जन्मना और मरना पडता है । और जो ज्ञानी है वे अपना जीवन ज्ञान पूर्वक सदाचार मय बना कर मरते हैं वे एक ही बार मे मुक्ति धाम को पहुंच जाते हैं । या सात-आठ भव से तो ज्यादा जन्म-मरण करते ही नही है ।

मूल:—सत्थग्गहणं विसभक्खणं च, जलणं च जलपवेसो य ।
अणायारभडसेवी, जम्मणमरणाणि बधंति ॥७॥

छाया:—शस्त्रग्रहण विषभक्षण च, ज्वलन च जलप्रवेशश्च ।
अनाचारभाण्डसेवी च, जन्ममरणानि बध्यते ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! जो आत्मघात के लिए (सत्थग्गहण) शस्त्र ग्रहण करे (च) और (विसभक्खण) विष भक्षण करे (च) और (जलण) अग्नि मे प्रवेश करे, (जलपवेसो) जल मे प्रवेश करे (य) और (अणायारभडसेवी) नही सेवन करने योग्य सामग्री की इच्छा करे । ऐसा करने से (जम्मणमरणाणि) अनेक जन्म-मरण हो ऐसा कर्म (बधति) बांधता है ।

भावार्थ—हे गौतम ! जो आत्म-हत्या करने के लिए, तलवार, बरछी, कटारी, आदि शस्त्र का प्रयोग करे । या अफीम, सखिया, मोरा, वछनाग, हिरकणी आदि का उपयोग करे, अथवा अग्नि मे पड कर, या अग्नि मे प्रवेश र या कुआ, बावड़ी, नदी, तालाब मे गिर कर मरे तो उसका यह मरण

अज्ञानपूर्वक है। इस प्रकार मरने से अनेक जन्म और मरणो की वृद्धि के सिवाय और कुछ नही होता है। और जो मर्यादा के विरुद्ध अपने जीवन को कलुषित करने वाली सामग्री ही को प्राप्त करने के लिये रात-दिन जुटा रहता है, ऐसे पुरुष की आयुष्य पूर्ण होने पर भी उसका मरण आत्म-हत्या के समान ही है।

मूल—अह पचहि ठाणेहिं, जहिं सिक्खा न लब्भई।
थभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥८॥

छाया—अथ पञ्चभि स्थानै, यै शिक्षा न लभ्यते।
स्तम्भात् क्रोधात् प्रमादेन, रोगेणालस्येन च ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (अह) उसके बाद (जेहिं) जिन (पचहिं) पाँच (ठाणेहिं) कारणो से (सिक्खा) शिक्षा (न) नहीं (लब्भई) पाता है, वे यो हैं। (थभा) मान से (कोहा) क्रोध से (पमाएण) प्रमाद से (रोगेणालस्सएणय) रोग से और आलस से।

भावार्थ—हे आर्य! जिन पाँच कारणो से इस आत्मा को ज्ञान प्राप्त नही होता है, वे यो हैं :—क्रोध करने से, मान करने से, किये हुए कण्ठस्थ ज्ञान का स्मरण नही करके नवीन ज्ञान सीखते जाने से, रोगी अवस्था से और आलस्य से।

मूल—अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चइ।
अहस्सिरे सया दते, न य मम्ममुदाहरे ॥९॥
नासीले न विसीले अ, न सिआ अइलोलुए।
अक्कोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चइ ॥१०॥

छाया—अथाष्टभि स्थानै, शिक्षाशील इत्युच्यते।
अहसनशील. सदा दान्तः, न च मर्मोदाहर ॥९॥
नाशीलो न विशीलः, न स्यादति लोलुपः।
अक्रोधन. सत्यरत, शिक्षाशील इत्युच्यते ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (अह) अब (अट्ठहिं) आठ (ठाणेहिं) स्थान कारणो से (सिक्खासीले) शिक्षा प्राप्त करने वाला होता है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है। (अहस्सिरे) हँसोड न हो (सया) हमेशा (दते) इन्द्रियो को दमन करने वाला हो, (य) और (मम्म) मर्म माषा (न) नही (उदाहरे) बोलता हो, (असीले) सर्वथा शील-रहित (न) नही हो, (अ) और (विसीले) शील दूषित करने वाला (न) न हो (अइलोलुप) अति लोलुपी (न) न (सिआ) हो, (अक्कोहणे) क्रोध न करने वाला हो (सच्चरए) सत्य मे रत रहता हो, वह (सिक्खासीले) ज्ञान प्राप्त करने वाला होता है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है।

भावार्थ—हे गौतम ! अगर किसी को ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो तो, वह विशेष न हँसे, सदैव खेल नाटक वगैरह देखने आदि के विषयो से इन्द्रियो का दमन करता रहे, किसी की मार्मिक बात को प्रकट न करे, शीलवान् रहे, अपना आचार-विचार शुद्ध रक्खे, अति लोलुपता से सदा दूर रहे, क्रोध न करे, और सत्य का सदैव अनुयायी बना रहे, इस प्रकार रहने से ज्ञान की विशेष प्राप्ति होती है।

मूल.—जे लक्खणं सुविण पउजमाणे,
निमित्तकोऊहलसपगाढे ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी,
न गच्छइ सरणं तम्मि काले ॥११॥

छाया·—यो लक्षण स्वप्न प्रयुञ्जान·, निमित्तकौतूहल सप्रगाढ ।
कुहेटकविद्यास्रवद्वारजीवी, न गच्छति शरण तस्मिन् काले ॥११॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो साधु हो कर (लक्खण) स्त्री, पुरुष के हाथादि की रेखाओ के लक्षण और (सुविण) स्वप्न का फलादेश बताने का (पउजमाणे) प्रयोग करते हो एव (निमित्तकोऊहलसपगाढे) भावी फल बताने तथा कौतूहल करने मे, या पुत्रोत्पत्ति के साधन बताने मे आसक्त हो रहा हो, इसी तरह (कुहेडविज्जासवदारजीवी) मत्र, तन्त्र, विद्या रूप आस्रव के द्वारा जीवन निर्वाह करता हो वह (तम्मि काले) कर्मोदय काल मे (सरण) दुख से बचने के लिए किसी की शरण (न) नही (गच्छई) पाता है।

भावार्थ —हे गौतम ! जो सब प्रपच छोड करके साधु तो हो गया है मगर फिर भी वह स्त्री पुरुषो के हाथ व पैरो की रेखाएँ एव तिल, मस आदि के भले-बुरे फल वताता है, या स्वप्न के शुभाशुभ फलादेश को जो कहता है, एव पुत्रोत्पत्ति आदि के साधन वताता है, इसी तरह मन्त्र-तन्त्रादि विद्या रूप आश्रव के द्वारा जीवन का निर्वाह करता है तो उसके अन्त समय मे, जब वे कर्म फलस्वरूप मे आकर खडे होंगे उस समय उसके कोई भी शरण नही होंगे, अर्थात् उस समय उसे दुख से कोई भी नही वचा सकेगा।

मूल—पडति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।
दिव्व च गइ गच्छति, चरित्ता धम्ममारिय ॥१२॥

छाया.—पतन्ति नरके घोरे, ये नरा पापकारिण।
दिव्या च गति गच्छन्ति चरित्वा धर्ममार्यम् ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जो) जो (नरा) मनुष्य (पावकारिणो) पाप करने वाले है वे (घोरे) महा भयकर (नरए) नरक मे (पडति) जा कर गिरते है। (च) और (आरिय) सदाचार रूप प्रधान (धम्म) धर्म को जो (चरित्ता) अगीकार करते हैं, वे मनुष्य (दिव्व) श्रेष्ठ (गइ) गति को (गच्छति) जाते है।

भावार्थ—हे आर्य ! जो आत्माएँ मानव जन्म को पा करके हिंसा, झूठ, चोरी, आदि दुष्कृत्य करती है वे पापात्माएँ, महाभयकर जहाँ दुख हैं ऐसे नरक मे जा गिरेंगी। और जिन आत्माओ ने अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य आदि धर्म को अपने जीवन मे खूब सग्रह कर लिया है, वे आत्माएँ यहाँ से मरने के पीछे जहाँ स्वर्गीय सुख अधिकता से होते है, ऐसे श्रेष्ठ स्वर्ग मे जाती हैं।

मूल—बहुआगमविण्णाणा,
समाहिउप्पायगा य गुणगाही।
एएण कारणेण,
अरिहा आलोयण सोउ ॥१३॥

छाया—बह्वागमविज्ञाना, समाध्युत्पादकाश्च गुणग्राहिणः।
एतेन कारणेन, अर्हा आलोचना श्रोतुम् ॥१३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (बहुआगम विण्णाणा) बहुत शास्त्रो का जानने वाला हो (समाहिउप्पायगा) कहने वाले को समाधि उत्पन्न करने वाला हो (य) और (गुणगाही) गुणग्राही हो (एएण) इन (कारणेण) कारणो से (आलोयण) आलोचना को (सोउं) सुनने के लिए (अरिहा) योग्य है ।

भावार्थ—हे आर्य ! आन्तरिक बात उसके सामने प्रकट की जाय जो कि बहुत शास्त्रो को जानता हो । जो प्रकाशक को सात्वना देने वाला हो, गुणग्राही हो । उसी के सामने अपने हृदय की बात खुले दिल से करने मे कोई आपत्ति नही है । क्योकि इन बातो से युक्त मनुष्य ही आलोचक के योग्य है ।

मूल—भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।
नावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥१४॥

छाया:—भावना योगशुद्धात्मा, जले नौरिवाख्याता ।
नौरिव तीर सम्पन्ना, सर्व दु खात् त्रुट्यति ॥१४॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (भावणा) शुद्ध भावना रूप (जोगसुद्धप्पा) योग से शुद्ध हो रही है आत्मा जिनकी ऐसे पुरुष (जले णावा व) नौका के समान जल के ऊपर ठहरे हुए है, ऐसा (आहिया) कहा गया है । (नावा) जैसे नौका अनुकूल वायु से (तीरसम्पन्ना) तीर पर पहुँच जाती है (व) वैसे ही, नौका रूप शुद्धात्मा के उपदेश से जीव (सव्वदुक्खा) सर्व दुखो से (तिउट्टइ) मुक्त हो जाते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! शुद्धभावना रूप ध्यान से हो रही है आत्मा निर्मल जिनकी, ऐसी शुद्धात्माएँ ससार रूप समुद्र मे नौका के समान हैं । ऐसा ज्ञानियो ने कहा है । वे नौका के समान शुद्धात्माएँ आप स्वय तिर जाती है और उनके उपदेश से अन्य जीव भी चारित्रवान् होकर सर्व दुख रूप ससार समुद्र का अन्त करके उसके परले पार पहुँच जाते है ।

मूलः—सवणे नाणे विण्णाणे, पच्चक्खाणे य सजमे ।
अणाहए तवे चेव वोदाणे, अकिरिया सिद्धी ॥१५॥

छाया'—श्रवण ज्ञान विज्ञान प्रत्याख्यान च सयम ।
अनास्रव तपश्चैव, व्यवदानमक्रिया सिद्धि ॥१५॥

अन्वयाथ —हे इन्द्रभूति ! ज्ञानी जनो के संसर्ग से (सवणे) धर्म श्रवण होता है। धर्म श्रवण से (नाणे) ज्ञान होता है। ज्ञान से (विण्णाणे) विज्ञान होता है। विज्ञान से (पच्चक्खाणे) दुराचार का त्याग होता है। (य) और त्याग से (सजमे) सयमी जीवन होता है। सयमी जीवन से (अणाहए) अनास्रवी होता है (चेव) और अनास्रवी होने से (तवे) तपवान होता है। तपवान होने से (वोदाणे) पूर्व सचित कर्मों का नाश होता है और कर्मो के नाश होने से (अकिरिया) क्रियारहित होता है। और सावद्य क्रिया रहित होने से (सिद्धी) सिद्धि की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—हे गौतम ! सम्यक् ज्ञानियो की सगति से धर्म का श्रवण होता है, धर्म के श्रवण से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से विशेष ज्ञान या विज्ञान होता है। विज्ञान से पापो के करने का प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान से सयमी जीवन की प्राप्ति होती है। सयमी जीवन से अनास्रव अर्थात् आते हुए नवीन कर्मों की रोक हो जाती है। फिर अनास्रव से जीव तपवान वनता है। तपवान होने से पूर्व सचित कर्मो का नाश हो जाता है। कर्मों के क्षय हो जाने से सावद्य क्रिया का आगमन भी वद हो जाता है। जव क्रिया माश्र रुक गयी तो फिर वस, जीव को मुक्ति ही मुक्ति है। यो, सदाचारी पुरुषो की सगति करने से उत्तरोत्तर सद्गुण ही सद्गुण प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि उसकी मुक्ति हो जाती है।

मूल —अवि से हासमासज्ज, हता णंदीति मन्नति ।
अल वालस्स सगेण, वेर वड्ढति अप्पणो ॥१६॥

छाया.—अपि स हास्यमासज्य, हन्ता नन्दीति मन्यते ।
अल वालस्य सङ्गेन, वैर वर्धत आत्मन· ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अवि) और जो कुसग करता है (से) वह (हासमासज्ज) हास्य आदि मे आसक्त होकर (हता) प्राणियो की हिंसा ही मे (णदीति) आनन्द है, ऐसा (मन्नति) मानता है। और उस (वालस्स) अज्ञानी की आत्मा का (वेर) कर्मवध (वड्ढति) वढता है।

भावार्थः—हे गौतम ! सत्पुरुषो की सगति करने मे इस जीव को गुणो की प्राप्ति होती है और जो हास्यादि मे आसक्त होकर प्राणियो की हिंसा करके आनन्द मानते हैं। ऐसे अज्ञानियो की सगति कभी मत करो। क्योकि ऐसे दुराचारियो के ससर्ग से शराब पीना, मांस खाना, हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार का सेवन करना आदि दुष्कर्म बढ जाते है। और उन दुष्कर्मों से आत्मा को महान् कष्ट होता है। अत मोक्षाभिलाषियो को अज्ञानियो की सगति कभी भूल कर भी नही करनी चाहिए।

मूलः—आवस्सय अवस्स करणिज्ज,
धुवनिग्गहो विसोही अ।
अज्झयणछक्कवग्गो,
नाओ आराहणा मग्गो ॥१७॥

छाया—आवश्यकमवश्य करणीयम्, ध्रुवनिग्रह विशोधितम्।
अध्ययनषट्कवर्ग, ज्ञेय आराधना मार्ग ॥१७॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (धुवनिग्गहो) सदैव इन्द्रियो को निग्रह करने वाला (विसोही अ) आत्मा को विशेष प्रकार से शोधित करने वाला (नाओ) न्याय के कांटे के समान (आराहणा) जिससे वीतराग के वचनो का पालन हो ऐसा (मग्गो) मोक्ष मार्ग रूप (अज्झयणछक्कवग्गो) छ वर्ग "अध्ययन" है, पढने के जिसके ऐसा (आवस्सय) आवश्यक-प्रतिक्रमण (अवस्स) अवश्य (करणिज्ज) करने योग्य है।

भावार्थ—हे गौतम ! हमेशा इन्द्रियो के विषय को रोकने वाला, और अपवित्र आत्मा को भी निर्मल बनाने वाला, न्यायकारी, अपने जीवन को सार्थक करने वाला और मोक्ष मार्ग का प्रदर्शक रूप छः अध्ययन है पढने के जिसमे; ऐसा आवश्यक सूत्र साधु-साध्वी तथा गृहस्थो को सदैव प्रात काल और सायकाल दोनो समय अवश्य करना चाहिये। जिसके करने से अपने नियमो के विरुद्ध दिन-रात भर मे भूल से किये हुए कार्यों का प्रायश्चित्त हो जाता है। गौतम ! वह आवश्यक यो है।

मूल—सावज्जजोगविरई,
उक्कित्तण गुणवओ च पडिवत्ती ।
खलिअस्स निंदणा,
वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव ॥१८॥

छाया—सावद्ययोगविरति, उत्कीर्त्तन गुणवतश्च प्रतिपत्ति ।
स्खलितस्य निन्दना, व्रणचिकित्सा गुणधारणा चैव ॥१८॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (सावज्जजोगविरई) सावद्ययोग से निवृत्ति (उक्कित्तण) प्रभु की प्रार्थना (य) और (गुणवओ) गुणवान गुरुओ को (पडिवत्ति) विधिपूर्वक नमस्कार। (खलिअस्स) अपने दोषो का (निंदणा) निरीक्षण (वणतिगिच्छ) छिद्र के समान लगे हुए दोषो का प्रायश्चित्त ग्रहण करता हुआ निवृत्ति रूप औषधि का सेवन करना (चेव) और (गुणधारणा) अपनी शक्ति के अनुसार त्याग रूप गुणो को धारण करना।

भावार्थ—हे गौतम ! जहाँ हरी वनस्पति, चीटियाँ, कुथुए बहुत ही छोटे जीव वगैरह न हो ऐसे एकान्त स्थान पर कुछ भी पाप नहीं करना, ऐसा निश्चय करके, कुछ समय के लिए अपने चित्त को स्थिर कर लेना, यह आवश्यक का प्रथम अध्ययन हुआ। फिर प्रभु की प्रार्थना करना, यह द्वितीय अध्ययन है। उसके बाद गुणवान् गुरुओ को विधिपूर्वक हृदय से नमस्कार करना यह तीसरा अध्ययन है। किये हुए पापो की आलोचना करना चौथा अध्ययन और उसका प्रायश्चित्त ग्रहण करना पाँचवाँ अध्ययन और छठी बार यथाशक्ति त्याग की वृद्धि करे। इस तरह षडावश्यक हमेशा दोनो समय करता रहे। यह साधु और गृहस्थो का नियम है।

मूल—जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासिय ॥१९॥

छाया—य सम सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ।
तस्य सामायिक भवति, इति केवलिभाषितम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जो) जो मनुष्य (तसेसु) त्रस (य) और (थावरेसु) स्थावर (सव्वभूएसु) समस्त प्राणियो पर (समो) समभाव रखने वाला है। (तस्स) उसके (सामाइय) सामायिक (होइ) होती है (इइ) ऐसा (केवली) वीतराग ने (भासिय) कहा है।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस मनुष्य का हरी वनस्पति आदि जीवो पर तथा हिलते-फिरते प्राणी मात्र के ऊपर समभाव है अर्थात् सूई चुभोने से अपने को कष्ट होता है ऐसे ही कष्ट दूसरो के लिए भी समझना है। बस, उसी की सामायिक होती है ऐसा वीतरागो ने प्रतिपादन किया है। इस तरह सामायिक करने वाला मोक्ष का पथिक बन जाता है।

मूल.—तिण्णिय सहस्सा सत्त सयाइ,
तेहुत्तरिं च ऊसासा।
एस मुहुत्तो दिट्ठो,
सव्वेहि अणंतनाणीहिं ॥२०॥

छाया:—त्रीणि सहस्राणि सप्तशतानि, त्रिसप्ततिश्च उच्छ्वास.।
एषो मुहूर्त्तो दृष्टः, सर्वैरनन्तज्ञानिभि ॥२०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (तिण्णियसहस्सा) तीन हजार (सत्तसयाइ) सातसौ (च) और (तेहुत्तरिं) तिहत्तर (ऊसासा) उच्छ्वासो का (एस) यह (मुहुत्तो) मुहूर्त होता है। ऐसा (सव्वेहिं) सभी (अणतनाणीहिं) अनन्त ज्ञानियो के द्वारा (दिट्ठो) देखा गया है।

भावार्थः—हे गौतम ! ३७७३ तीन हजार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासो का समूह एक मुहूर्त्त होता है। ऐसा सभी अनन्तज्ञानियो ने कहा है।

॥ इति षोडशोऽध्यायः ॥

☆

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय सत्रहवां)

नरक-स्वर्ग-निरूपण

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—नेरइया सत्तविहा, पुढवीसु सत्तसू भवे।
रयणाभासक्कराभा, बालुयाभा य आहिआ ॥१॥
पकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा।
इइ नेरइआ एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥२॥

छाया·—नैरयिका सप्तविधा· पृथिवीषु सप्तसु भवेयु।
रत्नाभा शर्कराभा, वालुकाभा च आख्याता ॥१॥
पङ्काभा धूमाभा, तम· तमस्तम तथा।
इति नेरयिका एते, सप्तधा परिकीर्त्तिता ॥२॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (नेरइया) नरक (सत्तसू) सात अलग-अलग (पुढवीसु) पृथ्वी मे (भवे) होने से (सत्तविहा) सात प्रकार का (आहिआ) कहा गया है। (रयणाभासक्कराभा) रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा (य) और (बालुयाभा) वालुप्रभा (पकाभा) पकप्रभा (धूमाभा) धूमप्रभा (तमा) तमप्रभा (तहा) वैसे ही तथा (तमतमा) तमतमा प्रभा (इइ) इस प्रकार (एए) ये (नेरइया) नरक (सत्तहा) सात प्रकार के (परिकित्तिआ) कहे गये हैं।

भावार्थ—हे गौतम! एक से एक भिन्न होने से नरक को ज्ञानीजनों ने सात प्रकार का कहा है। वे इस प्रकार है—(१) वैडूर्य रत्न के समान है

प्रभा जिसकी उसको रत्नप्रभा नाम से पहला नरक कहा है। (२) इसी तरह पाषाण, धूल, कर्दम, धूम्र के समान है प्रभा जिसकी उसको यथाक्रम शर्करा प्रभा (३) बालुका प्रभा (४) पंक प्रभा और (५) धूम प्रभा कहते हैं। और जहां अन्धकार है उसको (६) तम प्रभा कहते है। और जहां विशेष अन्धकार है उसको (७) तमतमा प्रभा सातवां नरक कहते है।

मूल—जे केइ बाला इह जीवियट्ठी,
पावाइ कम्माइं करंति रुद्दा।
ते घोररूवे तमिसंधयारे,
तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥३॥

छाया:—ये केऽपि बाला इह जिवितार्थिनः
पापानि कर्माणि कुर्वन्ति रुद्रा.।
ते घोररूपे तमिस्रान्धकारे,
तीव्राभितापे नरके पतन्ति ॥३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (इह) इस संसार मे (जे) जो (केइ) कितनेक (जीवियट्ठी) पापमय जीवन के अर्थी (बाला) अज्ञानी लोग (रुद्दा) रौद्र (पावाइ) पाप (कम्माइ) कर्मों को (करंति) करते है। (ते) वे (घोररूवे) अत्यन्त भयानक और (तमिसंधयारे) अत्यन्त अन्धकार युक्त, एवं (तिव्वाभि-तावे) तीव्र है ताप जिसमे ऐसे (नरए) नरक मे (पडंति) जा गिरते हैं।

भावार्थ:—हे गौतम! इस संसार मे कितनेक ऐसे जीव है, कि वे अपने पापमय जीवन के लिए महान हिंसा आदि पाप कर्म करते है। इसीलिए वे महान् भयानक और अत्यन्त अन्धकार युक्त तीव्र सन्तोषदायक नरक मे जा गिरते हैं और वर्षों तक अनेक प्रकार के कष्टो को सहन करते रहते हैं।

मूल—तिव्वं तसे पाणिणो थावरे या,
जे हिंसती आयसुहं पडुच्च।
जे लूसए होइ अदत्तहारी,
ण सिक्खती सेयवियस्स किंचि ॥४॥

छाया·—तीव्र त्रसान् प्राणिन स्थावरान् वा,
यो हिनस्ति आत्मसुख प्रतीत्य ।
यो लूषको भवति अदत्तहारी,
न शिक्षते सेवनीयस्य किञ्चित् ॥४॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (तसे) त्रस (या) और (थावरे) स्थावर (पाणिणो) प्राणियो की (तिव्व) तीव्रता से (हिंसती) हिंसा करता है, और (आयसुह) आत्म सुख के (पडुच्च) लिए (जे) जो मनुष्य (लूसए) प्राणियो का उपमर्दक (होइ) होता है । एव (अदत्तहारी) नहीं दी हुई वस्तुओ का हरण करने वाला (किंचि) थोडा सा भी (सेयवियस्स) अगीकार करने योग्य व्रत के पालन का (ण) नही (सिक्खती) अभ्यास करता है । वह नरक मे जा कर दुख उठाता है ।

भावार्थ —हे गौतम ! जो मनुष्य, हलन-चलन करने वाले अर्थात् त्रस तथा स्थावर जीवों की निर्दयतापूर्वक हिंसा करता है । और जो शारीरिक पौद्गलिक सुखो के लिए जीवो का उपमर्दन करता है । एव दूसरो की चीजें हरण करने ही मे अपने जीवन की सफलता समझता है । और किसी भी व्रत को अगीकार नही करता, वह यहाँ से मरकर नरक मे जाता है । और स्व-कृत कर्मों के अनुसार वहाँ नाना भाति के दुख भोगता है ।

मूलः—छिंदति बालस्स खुरेण नक्कं,
उट्ठे वि छिंदति दुवेवि कण्णे ।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं,
तिक्खाहिसूलाभितावयंति ॥५॥

छाया —छिन्दन्ति बालस्य क्षुरेण नासिकाम्,
औष्ठावपि छिन्दन्ति द्वावपि कर्णौ ।
जिह्वा विनिष्काम्य वितस्तिमात्र,
तीक्ष्णैः शूलादभितापयन्ति ॥५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! परमाधामी देव नरक मे (बालस्स) अज्ञानी के (खुरेण) छुरी से (नक्क) नाक को (छिदति) छेदते हैं। (उट्ठे वि) ओठो को भी और (दुवे) दोनो (कन्ने) कानो को (वि) भी (छिदति) छेदते है। तथा (विहत्थिमित्त) बेंत के समान लम्बाई भर (जिब्भ) जिह्वा को (विणिकस्स) बाहर निकाल करके (तिक्खाहि) तीक्ष्ण (सूला) शूलो आदि से (अभितावयति) छेदते है।

भावार्थ—हे गौतम ! जो अज्ञानी जीव, हिंसा, झूठ, चोरी और व्यभिचार आदि करके नरक मे जा गिरते हैं। असुर कुमार परमाधामी उन पापियो के कान नाक और ओठो को छुरी से छेदते हैं। और उनके मुँह मे से जिह्वा को बेंत जितनी लम्बाई भर बाहर खीच कर तीक्ष्ण शूलो से छेदते हैं।

मूल—ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व्व,
राइदिय तत्थ थणति बाला।
गलंति ते सोणिअपूयमंसं,
पज्जोइया खारपइद्धियगा ॥६॥

छायाः—ते तिप्पमाना तलसम्पुटइव,
रात्रिन्दिवा तत्र स्तनान्त बाला ।
गलन्ति ते शोणितपूतमास,
प्रद्योनिता क्षार प्रदिग्धागा: ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तत्थ) वहाँ नरक मे (ते) वे (तिप्पमाणा) रुधिर झरते हुए (बाला) अज्ञानी (राइदिय) रात दिन (तलसपुड) पवन से प्रेरित ताल वृक्षो के सूखे पत्तो के शब्द के (व्व) समान (थणति) आक्रन्दन का शब्द करते हैं। (ते) वे नारकीय जीव (पज्जोइया) अग्नि से प्रज्वलित (खार-पइद्धियगा) क्षार से जलाये हुए अग जिससे (सोणिअपूयमस) रुधिर, रसी और माँस (गलति) झरते रहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! नरक मे गये हुए उन हिंसादि महान् आरम्भ के करने वाले नारकीय जीवो के नाक, कान आदि काट लेने से रुधिर बहता रहता

है और वे रात-दिन बडे आक्रन्दन स्वर से रोते हैं। और उस छेदे हुए अग को अग्नि से जलाते हैं। फिर उसके ऊपर लवणादिक क्षार को छिटकते है। जिससे और भी विशेष रुधिर पूय और मांस क्षरता रहता है।

मूलः—रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सिअगे,
भिन्नुत्तमगे परिवत्तयता।
पयति ण णेरइए फुरते,
सजीवमच्छे व अयोकवल्ले ॥७॥

छाया—रुधिरे पुनो वर्चं समुच्छ्रिताङ्गान्,
भिन्नात्तमाङ्गान् परिवर्त्तयन्त।
पचन्ति नैरयिकान् स्फुरत,
सजीवमत्स्यानिवाय कटाहे ॥७॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (पुणो) फिर (वच्च) दुर्गन्ध मल से (समुस्सिअगे) लिपटा हुआ है अग जिनका और (भिन्नुत्तमगे) सिर जिनका छेदा हुआ है ऐसे नारकीय जीवो का खून निकालते हैं और (रुहिरे) उसी खून के तपे हुए कडाहे मे उन्हें डालकर (परिवत्तयत्ता) इधर-उधर हिलाते हुए परमाधामी (पयति) पकाते हैं। तव (णेरइए) नारकीय जीव (अयोकवल्ले) लोहे के कडाहे मे (सजीव मच्छेव) सजीव मच्छी की तरह (फुरते) तडफडाते है।

भावार्थ—हे गौतम! जिन आत्माओ ने शरीर को आराम पहुंचाने के लिए हर तरह से अनेको प्रकार के जीवो की हिंसा की है, वे आत्माएँ नरक मे जाकर जब उत्पन्न होती हैं, तव परमाधामी देव दुर्गन्ध युक्त वस्तुओ मे लिपटे हुए उन नारकीय आत्माओ के सिर छेदन कर उन्ही के शरीर मे खून निकाल उन्हें तप्त कडाहे मे डालते हैं और उन्हें खूब ही उबाल करके जलाते हैं। असुर कुमारो के ऐसा करने पर वे नारकीय आत्माएँ उस तपे हुए कडाहे मे तप्त तवे पर डाली हुई सजीव मछली की तरह तडफडाती हैं।

मूल.—नो चेव ते तत्थ मसीभवति,
ण मिज्जती तिव्वाभिवेयणाए ।
तमाणुभाग अणुवेदयता,
दुक्खति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥८॥

छाया:—नो चैव ते तत्र मषीभवन्ति, न म्रियन्ते तीव्राभीर्वेदनाभि. ।
तदनुभागमनुवेदयन्त, दु:खयन्ति दुःखिन इह दुष्कृतेन ॥८॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (तत्थ) नरक मे (ते) वे नारकीय जीव पकाने से (नो चेव) नही (मसी भवति) भस्म होते हैं । और (तिव्वाभिवेयणाए) तीव्र वेदना से (न) नही (मिज्जति) मरते हैं । (दुक्खी) वे दुखी जीव (दुक्कडेण) अपने किये हुए दुष्कर्मों के द्वारा (तमाणुभाग) उसके फल को (अणुवेदयता) भोगते हुए (दुक्खति) कष्ट उठाते है ।

भावार्थ—हे गौतम ! नारकीय जीव उन परमाधामी देवो के द्वारा पकाये जाने पर न तो भस्मीभूत ही होते हैं और न उस महान् भयानक छेदन-भेदन तथा ताडन आदि ही से मरते है । किन्तु अपने किये हुए दुष्कर्मों के फलो को भोगते हुए बडे कष्ट से समय बिताते रहते हैं ।

मूल.—अच्छीनिमिलियमेत्तं,
नत्थि सुह दुक्खमेव अणुबद्धं ।
नरए नेरइयाण,
अहोनिसं पच्चमाणाण ॥९॥

छाया:—अक्षिनिमीलितमात्र, नास्ति सुख दु खमेवानुबद्धम् ।
नरके नैरयिकाणाम्, अहर्निश पच्यमानानाम् ॥९॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (अहोनिस) रात दिन (पच्चमाणाण) पचते (नेरइयाण) नारकीय जीवो को (नरए) नरक मे (अच्छी) आंख (निमि-

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (ज) जो (कम्म) कर्म (जारिस) जैसे (पुव्व) पूर्व भव मे जीव ने (अकासि) किये है (तमेव) वैसे ही, उसके फल (सपराए) ससार मे (आगच्छति) प्राप्त होते हैं। (एगतदुक्ख) केवल दु ख है जिसमे ऐसे नारकीय (भव) जन्म को (अज्जणित्ता) उपार्जन करके (दुक्खी) वे दुखी जीव (त) उस (अणतदुक्ख) अपार दुख को (वेदति) भोगते हैं।

भावार्थः– हे गौतम ! इस आत्मा ने जैसे पुण्य पाप किये हैं, उसी के अनुसार जन्म-जन्मान्तर रूप ससार मे उसे सुख-दुख मिलते रहते हैं। यदि उसने विशेष पाप किये है तो जहाँ घोर कष्ट होते हैं ऐसे नारकीय जन्म उपार्जन करके वह उस नरक मे जा पडती है और अनन्त दुखो को सहती रहती है।

मूल—जे पावकम्मेहि धणं मणूसा,
समाययती अमइं गहाय।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरय उविति ॥१२॥

छाया:—ये पापकर्मभिर्धन मनुष्या:,
समार्जयन्ति अमति गृहीत्वा।
प्रदाय ते पाशप्रवृत्ता: नरा,
वैरानुबद्धा नरकमुपयान्ति ॥१२॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (मणूसा) मनुष्य (अमइ) कुमति को (गहाय) ग्रहण करके (पावकम्मेहि) पाप कर्म के द्वारा (धण) धन को (समाययती) उपार्जन करते हैं, (ते) वे (नरे) मनुष्य (पासपयट्टिए) कुटुम्बियो के मोह मे फसे हुए होते हैं, वे (पहाय) उन्हे छोड कर (वेराणुबद्धा) पाप के अनुबन्ध करने वाले (नरय) नरक मे जा कर (उविति) उत्पन्न होते है।

भावार्थ:—हे गौतम ! जो मनुष्य पाप बुद्धि से कुटुम्बियो के भरण-पोषण रूप मोह-पाश मे फँसता हुआ, गरीब लोगो को ठग कर अन्याय से धन पैदा करता है, वह मनुष्य धन और कुटुम्ब को यही छोड कर और जो पाप किये हैं उनको अपना साथी बना कर नरक मे उत्पन्न होता है।

मूल —एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे,
न हिंसए किंचण सव्वलोए।
एगतदिट्ठी अपरिग्गहे उ,
बुज्झिज्ज लोयस्स वस न गच्छे ॥१३॥

छाया —एतान् श्रुत्वा नरकान् धीर., न हिंस्यात् कञ्चन् सर्वलोके।
एकान्त दृष्टिरपरिग्रहस्तु, बुध्वा लोकस्य वश न गच्छेत् ॥१३॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (एगतदिट्ठी) केवल सम्यक्त्व की है दृष्टि जिनकी और (अपरिग्गहेउ) ममत्व भाव रहित ऐसे जो (धीरे) बुद्धिमान मनुष्य हैं वे (एयाणि) इन (णरगाणि) नरक के दुखो को (सोच्चा) सुन कर (सव्वलोए) सम्पूर्ण लोक मे (किंचण) किसी भी प्रकार के जीवों की (न) नही (हिंसए) हिंसा करें (लोयस्स) कर्म रूप लोक को (बुज्झिज्ज) जान कर (वस) उसकी आधीनता मे (न) नही (गच्छे) जावे।

भावार्थ —हे गौतम ! जिसने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है और ममत्व से विमुख हो रहा है ऐसा बुद्धिमान तो इस प्रकार के नारकीय दुखो को एक मात्र सुन कर किसी भी प्रकार की कोई हिंसा नही करेगा। यही नही, वह क्रोध, मान, माया, लोभ तथा अहकार रूप लोक के स्वरूप को समझ कर और उसके आधीन हो कर कभी भी कर्मों के बन्धनो को प्राप्त न करेगा। वह स्वर्ग में जाकर देवता होगा। देवता चार प्रकार के हैं। वे यो हैं—

मूल:—देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण।
भोमेज्ज वाणमन्तर, जोइस वेमाणिया तहा ॥१४॥

छाया —देवाश्चतुर्विधा उक्ता, तान्मे कीर्तयत, श्रृणु।
भौमेया व्यन्तरा., ज्योतिष्का वैमानिकास्तथा ॥१४॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (देवा) देवता (चउव्विहा) चार प्रकार के (वुत्ता) कहे है। (ते) वे (मे) मेरे द्वारा (कित्तयओ) कहे हुए तू (सुण) श्रवण कर (भोमेज्ज वाणमतर) भवनपति, वाणव्यन्तर (तहा) तथा (जोइस वेमा।) ज्योतिषी और वैमानिक देव।

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (ज) जो (कम्म) कर्म (जारिस) जैसे (पुव्व) पूर्व भव मे जीव ने (अकासि) किये है (तमेव) वैसे ही, उसके फल (सपराए) ससार मे (आगच्छति) प्राप्त होते हैं। (एगतदुक्ख) केवल दु:ख है जिसमे ऐसे नारकीय (भव) जन्म को (अज्जणित्ता) उपार्जन करके (दुक्खी) वे दुखी जीव (त) उस (अणतदुक्ख) अपार दुख को (वेदति) भोगते हैं।

भावार्थः– हे गौतम ! इस आत्मा ने जैसे पुण्य पाप किये हैं, उसी के अनुसार जन्म-जन्मान्तर रूप ससार मे उसे सुख-दुख मिलते रहते हैं। यदि उसने विशेप पाप किये है तो जहाँ घोर कष्ट होते है ऐसे नारकीय जन्म उपार्जन करके वह उस नरक मे जा पडती है और अनन्त दुखो को सहती रहती है।

मूल —जे पावकम्मेहि धणं मणूसा,
समाययंती अमइ गहाय।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरय उविंति ॥१२॥

छाया:—ये पापकर्मभिर्धन मनुष्याः,
समार्जयन्ति अमतिं गृहीत्वा ।
प्रदाय ते पाशप्रवृत्ताः नराः,
वैरानुबद्धा नरकमुपयान्ति ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (मणूसा) मनुष्य (अमइ) कुमति को (गहाय) ग्रहण करके (पावकम्मेहि) पाप कर्म के द्वारा (धण) धन को (समाययती) उपार्जन करते हैं, (ते) वे (नरे) मनुष्य (पासपयट्टिए) कुटुम्बियो के मोह मे फसे हुए होते है, वे (पहाय) उन्हे छोड कर (वेराणुबद्धा) पाप के अनुबन्ध करने वाले (नरय) नरक मे जा कर (उविंति) उत्पन्न होते है।

भावार्थ—हे गौतम ! जो मनुष्य पाप बुद्धि से कुटुम्बियो के भरण-पोषण रूप मोह-पाश मे फँसता हुआ, गरीब लोगो को ठग कर अन्याय से धन पैदा करता है, वह मनुष्य धन और कुटुम्ब को यही छोड कर और जो पाप किये हैं उनको अपना साथी बना कर नरक मे उत्पन्न होता है।

मूल —एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे,
न हिंसए किन्चण सव्वलोए।
एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ,
वुज्झिज्ज लोयस्स वस न गच्छे ॥१३॥

छाया —एतान् श्रुत्वा नरकान् धीरः, न हिंस्यात् कञ्चन् सर्वलोके।
एकान्त दृष्टिरपरिग्रहस्तु, बुध्वा लोकस्य वश न गच्छेत् ॥१३॥

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति ! (एगतदिट्ठी) केवल सम्यक्त्व की है दृष्टि जिनकी और (अपरिग्गहेउ) ममत्व भाव रहित ऐसे जो (धीरे) बुद्धिमान मनुष्य है वे (एयाणि) इन (णरगाणि) नरक के दुखो को (सोच्चा) सुन कर (सव्वलोए) सम्पूर्ण लोक मे (किंचण) किसी भी प्रकार के जीवो की (न) नही (हिंसए) हिंसा करें (लोयस्स) कर्म रूप लोक को (वुज्झिज्ज) जान कर (वस) उसकी आधीनता मे (न) नही (गच्छे) जावे।

भावार्थ —हे गौतम ! जिसने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है और ममत्व से विमुख हो रहा है ऐसा बुद्धिमान तो इस प्रकार के नारकीय दुखो को एक मात्र सुन कर किसी भी प्रकार की कोई हिंसा नही करेगा। यही नही, वह क्रोध, मान, माया, लोभ तथा अहकार रूप लोक के स्वरूप को समझ कर और उसके आधीन हो कर कभी भी कर्मों के बन्धनो को प्राप्त न करेगा। वह स्वर्ग मे जाकर देवता होगा। देवता चार प्रकार के हैं। वे यो हैं—

मूल —देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण।
भोमेज्ज वाणमन्तर, जोइस वेमाणिया तहा ॥१४॥

छाया —देवाश्चतुर्विधा उक्ता, तान्मे कीर्तयत, श्रृणु।
भौमिया व्यन्तराः, ज्योतिष्का वैमानिकास्तथा ॥१४॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (देवा) देवता (चउव्विहा) चार प्रकार के (वुत्ता) कहे है। (ते) वे (मे) मेरे द्वारा (कित्तयओ) कहे हुए तू (सुण) श्रवण कर (भोमेज्ज वाणमतर) भवनपति, वाणव्यन्तर (तहा) तथा (जोइस वेमाणिया) ज्योतिषी और वैमानिक देव।

भावार्थ.—हे गौतम ! देव चार प्रकार के होते हैं। उन्हें तू सुन। (१) भवनपति (२) वाणव्यन्तर (३) ज्योतिषी और (४) वैमानिक। भवनपति इस पृथ्वी से १०० योजन नीचे की ओर रहते हैं। वाणव्यन्तर १० योजन नीचे रहते है। ज्योतिषी देव ७९० योजन इस पृथ्वी से ऊपर की ओर रहते हैं। परन्तु वैमानिक देव तो इन ज्योतिषी देवो से भी असख्य योजन ऊपर रहते है।

मूल.—दसहा उ भवणवासी,
अट्ठहा वणचारिणो।
पंचविहा जोइसिया;
दुविहा वेमाणिया तहा ॥१५॥

छाया:—दशधा तु भवनवासिना, अष्टधा वनचारिण।
पञ्चविधा ज्योतिष्का:, द्विविधा वैमानिकास्तथा ॥१५॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (भवणवासी) भवनपति देव (दसहा) दस प्रकार के होते हैं। और (वणचरिणो) वाणव्यन्तर (अट्ठहा) आठ प्रकार के हैं। (जोइसिया) ज्योतिषी (पचविहा) पाच प्रकार के होते हैं। (तहा) वैसे ही (वेमाणिया) वैमानिक (दुविहा) दो प्रकार के हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! भवनपति देव दश प्रकार के हैं। वाणव्यन्तर आठ प्रकार के है और ज्योतिषी पाच प्रकार के है। वैसे ही वैमानिक देव भी दो प्रकार के हैं। अब भवनपति के दश भेद कहते हैं।

मूल—असुरा नागसुवण्णा,
विज्जू अग्गी वियाहिया।
दीवोदहि दिसा वाया,
थणिया भवणवासिणो ॥१६॥

छाया:—असुरा नागा: सुवर्णा:, विद्युतोऽग्नयो व्याख्याता:।
द्वीपा उदधयो दिशो वायव:, स्तनिता भवनवासिन: ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (असुरा) असुर कुमार (नागसुवण्णा) नाग कुमार, सुवर्ण कुमार (विज्जू) विद्युत कुमार (अग्गी) अग्निकुमार (दीवोदहि) द्वीपकुमार उदधि कुमार (दिसा) दिक्कुमार (वाया) वायुकुमार तथा (थणिया) स्तनित कुमार। इस प्रकार (भवणवासिणो) भवनवासी देव (वियाहिया) कहे गये है।

भावार्थ—हे गौतम! असुरकुमार, नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युत कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार और स्तनितकुमार यो ज्ञानियो द्वारा दश प्रकार के भवनपति देव कहे गये हैं। अब आगे आठ प्रकार के वाणव्यन्तर देव यो है।

मूल—पिसाय भूय जक्खा य,
रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा।
महोरगा य गधव्वा,
अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥१७॥

छाया—पिशाचा भूता यक्षाश्च, राक्षसा किन्नरा किंपुरुषाः।
महोरगाश्च गन्धर्वा, अष्टविधा व्यन्तरा ॥१७॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति। (वाणमतरा) वाणव्यन्तर देव (अट्ठविहा) आठ प्रकार के होते है। जैसे (पिसाय) पिशाच (भूय) भूत (जक्खा) यक्ष (य) और (रक्खसा) राक्षस (य) और (किन्नरा) किन्नर (किंपुरिसा) किंपुरुष (महोरगा) महोरग (य) और (गधव्वा) गधर्व।

भावार्थ—हे गौतम! वाणव्यन्तर देव आठ प्रकार के है। जैसे (१) पिशाच (२) भूत (३) यक्ष (४) राक्षस (५) किन्नर (६) किंपुरुष (७) महोरग और (८) गधर्व। ज्योतिषी देवो के पाँच भेद यो है—

मूल—चन्दा सूरा य नक्खत्ता,
गहा तारागणा तहा।
ठिया विचारिणो चेव,
पचहा जोइसालया ॥१८॥

छाया.—चन्द्रा. सूर्याश्च नक्षत्राणि, ग्रहास्तारागणास्तथा।
स्थिरा विचारिणश्चैव, पचधा ज्योतिरालया: ॥१८॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जोइसालया) ज्योतिषी देव (पचहा) पाच प्रकार के है। (चन्द्रा) चन्द्र (सूरा) सूर्य (य) और (नक्खत्ता) नक्षत्र (गहा) ग्रह (तहा) तथा (तारागणा) तारागण। जो (ठिया) ढाईद्वीप के वाहर स्थिर हैं। (चेव) और ढाईद्वीप के भीतर (विचारिणो) चलते फिरते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के हैं—(१) चन्द्र (२) सूर्य (३) ग्रह (४) नक्षत्र और (५) तारागण। ये देव ढाईद्वीप के वाहर तो स्थिर रहने वाले है और उसके भीतर चलते फिरते है। वैमानिक देवो के भेद यो है—

मूल.—वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।
कप्पोवगा य बोद्धव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥१६॥

छाया:—वैमानिकास्तु ये देवा:, द्विविधास्ते व्याख्याता।
कल्पोपगाश्च बोद्धव्या, कल्पातीतास्तथैव च ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (देवा) देव (वेमाणिया उ) वैमानिक हैं। (ते) वे (दुविहा) दो प्रकार के (वियाहिया) कहे गये है। एक तो (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न (य) और (तहेव य) वैसे ही (कप्पाईया) कल्पातीत (बोधव्वा) जानना।

भावार्थ—हे गौतम ! वैमानिक देव दो प्रकार के है। एक तो कल्पोत्पन्न और दूसरे कल्पातीत। कल्पोत्पन्न से ऊपर के देव कल्पातीत कहलाते हैं। और जो कल्पोत्पन्न है वे बारह प्रकार के है। वे यो हैं—

मूल.—कप्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसणगा तहा।
सणकुमारमाहिन्दा, बम्भलोगा य लंतगा ॥२०॥
महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तहा।
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥२१॥

छाया—कल्पोपगा द्वादशधा, सौधर्मेशानगास्तथा।
सनत्कुमारा माहेन्द्राः, ब्रह्मलोकाश्च लान्तका ॥२०॥

महाशुक्राः सहस्रारा., आनता प्राणतास्तथा।
आरणा अच्युताश्चैव, इति कल्पोपगा सुरा ॥२१॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न देव (बारसहा) बारह प्रकार के है (सोहम्मीसाणगा) सुधर्म, ईशान (तहा) तथा (सणकुमार) सनत्कुमार (माहिन्दा) महेन्द्र (बम्मलोगा) ब्रह्म (य) और (लतगा) लातक (महासुक्का) महाशुक्र (सहस्सारा) सहस्रार (आणया) आणत (पाणया) प्राणत (तहा) तथा (आरणा) आरण (चेव) और (अच्चूया) अच्युत, देव लोक (इइ) ये हैं। और इन्ही के नामो पर से (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न (सुरा) देवो के नाम भी है।

भावार्थ—हे गौतम! कल्पोत्पन्न देवो के बारह भेद है और वे यों हैं—(१) सुधर्म (२) ईशान (३) सनत्कुमार (४) महेन्द्र (५) ब्रह्म (६) लातक (७) महाशुक्र (८) सहस्रार (९) आणत (१०) प्राणत (११) आरण और (१२) अच्युत ये देवलोक है। इन स्वर्गो के नाम पर से ही इनमे रहने वाले इन्द्रो के भी नाम है। कल्पातीत देवो के नाम यो है—

मूलः—कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।
गेविज्जाणुत्तरा चेव, गेविज्जानवविहा तहि ॥२२॥

छाया.—कल्पातीतास्तु ये देवा, द्विविधास्ते व्याख्याता।
ग्रैवेयका अनुत्तराश्चैव, ग्रैवेयका नवविधास्तत्र ॥२२॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (जे) जो (कप्पाईयाउ) कल्पातीत देव है, (ते) वे (दुविहा) दो प्रकार के (वियाहिया) कहे गये है। (गेविज्ज) ग्रैवेयक (चेव) और (अणुत्तरा) अनुत्तर (तहि) उसमे (गेविज्ज) ग्रैवेयक (नवविहा) नव प्रकार के है।

भावार्थ—हे गौतम! कल्पातीत देव दो प्रकार के है। एक तो ग्रैवेयक और दूसरे अनुत्तर वैमानिक। उनमे भी ग्रैवेयक नो प्रकार के और अनुत्तर पाच प्रकार के है।

मूल—हेट्ठिमा हेट्ठिमा चेव, हेट्ठिमा मज्झिमा तहा ।
हेट्ठिमा उवरिमा चेव, मज्झिमा हेट्ठिमा तहा ॥२३॥

मज्झिमा मज्झिमा चेव,
मज्झिमा उवरिमा तहा ।
उवरिमा हेट्ठिमा चेव,
उवरिमा मज्झिमा तहा ॥२४॥

उवरिमा उवरिमा चेव, इय गेविज्जगा सुरा ।
विजया वेजयता य, जयता अपराजिया ॥२५॥

सव्वत्थसिद्धगा चेव, पचहाणुत्तरा सुरा ।
इइ वेमाणिया, एएऽणेगहा एवमायओ ॥२६॥

छाया.—अधस्तनाधस्तनाश्चैव, अधस्तनामध्यमास्तथा ।
अधस्तनोपरितनाश्चैव, मध्यमाऽधस्तनास्तथा ॥२३॥
मध्यमामध्यमाश्चैव, मध्यमोपरितनास्तथा ।
उपरितनाऽधस्तनाश्चैव, उपरितनमध्यमास्तथा ॥२४॥
उपरितनोपरितनाश्चैव, इति ग्रैवेयकाः सुरा ।
विजया वैजयन्ताश्च, जयन्ता अपराजिताः ॥२५॥
सर्वार्थसिद्धकाश्चैव, पचधाऽनुत्तराः सुराः ।
इति वैमानिका एते, अनेकधा एवमाद्यः ॥२६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (हेट्ठिमा हेट्ठिमा) नीचे की त्रिक का नीचे वाला (चेव) और (हेट्ठिमा मज्झिमा) नीचे की त्रिक का बीच वाला । (तहा) तथा (हेट्ठिमाउवरिमा) नीचे की त्रिक का ऊपर वाला (चेव) और (मज्झिमा-हेट्ठिमा) बीच की त्रिक का नीचे वाला (तहा) तथा (मज्झिमा मज्झिमा) बीच की त्रिक का बीच वाला (चेव) और (मज्झिमा उवरिमा) बीच की त्रिक का ऊपर वाला (तहा) तथा (उवरिमाहेट्ठिमा) ऊपर की त्रिक का नीचे वाला

(चेव) और (उवरिमाजरिमा) ऊपर के त्रिक के नीचे वाला (तहा) तथा (उवरिमा उवरिमा) ऊपर की त्रिक का ऊपर वाला (इइ) इस प्रकार नौ भेदों से (गेविज्जगा) ग्रैवेयक के (सुरा) देवता है। (विजया) विजय (वेजयन्ता) वैजयंत (य) और (जयंता) जयंत (अपराजिया) अपराजित (चेव) और (सव्वत्थसिद्धगा) सर्वार्थसिद्ध ये (पंचहा) पाँच प्रकार के (अणुत्तरा) अनुत्तर विमान के (सुरा) देवता कहे गये है। (इइ) इस प्रकार (एए) ये हुए [illegible] (वेमाणिया) वैमानिक देवो के भेद कहे गये है। और प्रकार से (एवमायओ) इन आदि मे (अणेगहा) अनेक प्रकार के है।

भावार्थ—हे गौतम! वारह देवलोक के ऊपर नौ ग्रैवेयक जो है उनके नाम यो है—(१) भद्दे (२) सुभद्दे (३) सुजाते (४) सुमानसे (५) सुदर्शने (६) प्रियदर्शने (७) अमोहे (८) सुपडिभद्दे और (९) यशोधर और पाँच अनुत्तर विमान यो है—(१) विजय (२) वैजयंत (३) जयंत (४) अपराजित (५) सर्वार्थसिद्ध। ये सब वैमानिक देवो के भेद बताए गये है।

मूल—जेसि तु विउला सिक्खा, मूलिय[१] ते अइत्थिया।
सीलवंता सवीसेसा, अदीणा जंति देवयं ॥२७॥

(१) किसी एक साहूकार ने अपने तीन लडकों को एक-एक हजार रुपया
देकर व्यापार करने के लिए इतर देश को भेजा। उनमें से एक ने तो यह
विचार किया कि अपने घर मे खूब धन है। फिजूल ही व्यापार कर कौन कष्ट
उठावे, अतः ऐशो आराम करके उसने मूल पूंजी को भी खो दिया। दूसरे ने
विचार किया, कि व्यापार करके मूल पूंजी तो ज्यों की त्यों कायम रखनी
चाहिए। परन्तु जो लाभ हो उसे ऐशो आराम में खर्च कर देना चाहिए।
और तीसरे ने विचार किया, कि मूल पूंजी को खूब ही बढाकर घर चलना
चाहिए। इसी तरह वे तीनों नियत समय पर घर आये। एक मूल पूंजी को
खोकर, दूसरा मूल पूजी लेकर, और तीसरा मूल पूंजी को खूब ही बढ़ा कर
घर आया। इसी तरह आत्माओं को मनुष्य-भव रूप मूल धन प्राप्त हुआ है।
जो आत्माएं मनुष्य भव रूप मूल धन की उपेक्षा करके खूब पापाचरण करती
हैं वे मनुष्य-भव को खो कर नरक और तिर्यंच योनियो में जाकर [illegible]
करती है। और जो आत्माएं पाप करने से पीछे हटती है, वे [illegible]

छाया.—येषा तु विपुला शिक्षा, मूलक तेऽतिक्रान्ता: ।
शीलवन्त सविशेषा:, अदीना यान्ति देवत्वम् ॥२७॥

अन्वयार्थ·—हे इन्द्रभूति ! (जेसिं) जिन्होने (विउला) अत्यन्त (सिक्खा) शिक्षा का सेवन किया है । (ते) वे (सीलवता) सदाचारी (सवीसेसा) उत्तरोत्तर गुणो की वृद्धि करने वाले (अदीणा) अदीन वृत्तिवाले (मूलिय) मूल धन रूप मनुष्य-भव को (अइत्थिया) उल्लघन कर (देवय) देव लोक को (जति) जाते हैं ।

भावार्थ—हे गौतम ! इस प्रकार के देव लोको मे वे ही मनुष्य जाते है जो सदाचार रूप शिक्षाओ का अत्यन्त सेवन करते है । और त्याग धर्म मे जिनकी निष्ठा दिनोदिन बढती ही जाती है। वे मनुष्य, मनुष्य-भव को त्यागकर स्वर्ग मे जाते है ।

मूल.—विसालिसेहिं सीलेहिं, जक्खा उत्तरउत्तरा ।
महासुक्का वदिप्पता, मण्णता अपुणच्चवं ॥२८॥
अप्पिया देवकामाण, कामरूवविउव्विणो ।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठ ति, पुव्वा वाससया बहू ॥२९॥

छाया:—विसदृशै: शीलै:, यक्षा उत्तरोत्तरा: ।
महाशुक्ला इव दीप्यमाना:, मन्यमाना अपुनश्चैवम् ॥२८॥
अर्पिता देवकामान्, कामरूपवैक्रयिण ।
ऊर्ध्वं कल्पेषु तिष्ठन्ति, पूर्वाणि वर्ष शतानि बहूनि ॥२९॥

रूप मनुष्य जन्म ही को प्राप्त होती है । परन्तु जो आत्मा अपना वश चलते सम्पूर्ण हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, ममत्व आदि का परित्याग करके अपने त्याग धर्म मे वृद्धि करती जाती है । वे सासारिक सुख की दृष्टि से मनुष्य-भव को मूल पूंजी से भी बढ कर देव-योनि को प्राप्त होती हैं । अर्थात् स्वर्ग मे जाकर वे आत्माए जन्म धारण करती है और वहाँ नाना भाँति के सुखो को भोगती है ।

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (विसालिसेहिं) विसदृश अर्थात् भिन्न-भिन्न (सीलेहिं) सदाचारो से (उत्तरउत्तरा) प्रधान से प्रधान (महासुक्का) महाशुक्ल अर्थात बिलकुल सफेद चन्द्रमा की (व) तरह (दिप्पता) देदीप्यमान् (अपुणच्चव) फिर चवना नही ऐसा (मण्णता) मानते हुए (कामरूवविउव्विणो) इच्छित रूप से बनाने वाले (वहू) बहुत (पुव्वावाससया) सैकडो पूर्व वर्ष पर्यंत (उड्ढ) ऊंचे (कप्पेमु) देवलोक मे (देवकामाण) देवताओ के सुख प्राप्त करने के लिए (अप्पिया) अर्पण कर दिये हैं सदाचार रूप व्रत जिनने ऐसी आत्माएं (जक्खा) देवता बनकर (चिट्ठ ति) रहती है ।

भावार्थ—हे गौतम ! आत्मा अनेक प्रकार के सदाचारो का सेवन कर स्वर्ग मे जाती है । तब वह वहां एक से एक देदीप्यमान् शरीरो को धारण करती है । और वहां दश हजार वर्ष से लेकर कई सागरोपम तक रहती हैं । वहां ऐसी आत्माएँ देवलोक के सुखो मे ऐसी लीन हो जाती हैं, कि वहाँ से अब मानो वे कभी मरेंगी ही नही, इस तरह से वे मान बैठती है ।

मूल.—जहा कुसग्गे उदग, समुद्देण सम मिणे ।
एव माणुस्सगा कामा, देवकामाण अतिए ॥३०॥

छाया—यथा कुशाग्रे उदक, समुद्रेण सम मिनुयात् ।
एव मानुष्यका कामाः देवकामानामन्तिके ॥३०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (कुसग्गे) घास के अग्रभाग पर की (उदग) जल की बूंद का (समुद्देण) समुद्र के (सम) साथ (मिणे) मिलान किया जाय तो क्या वह उसके बराबर हो सकती है ! नहीं (एव) ऐसे ही (माणुस्सगा) मनुष्य सम्बन्धी (कामा) काम भोगो के (अतिए) समीप (देवकामाण) देव सम्बन्धी काम भोगो को समझना चाहिए ।

भावार्थ—हे गौतम ! जिस प्रकार घास के अग्रभाग पर की जल की बूंद मे और समुद्र की जलराशि मे भारी अन्तर है । अर्थात् कहाँ तो पानी की बूंद और कहाँ समुद्र की जल राशि ! इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी काम भोगों के सामने देव सम्बन्धी काम भोगो को समझना चाहिए । सांसारिक सुख का परम स्वरूप बताने के लिए यह कथन किया गया है । आत्मिक विकास की दृष्टि से मनुष्य भव देवभव से श्रेष्ठ है ।

मूल —तत्थ ठिच्चा जहाठाण, जक्खा आउक्खए चुया ।
उवेति माणुस जोणि, से दसगेऽभिजायई[1] ॥३१॥

छाया.—तत्र स्थित्वा यथास्थान, यक्षा आयु क्षये च्युता ।
उपयान्ति मानुपी योनि, स दशांगोऽभिजायते ॥३१॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (तत्थ) यहाँ देवलोक मे (जक्खा) देवता (जहाठाण) यथास्थान (ठिच्चा) रह कर (आउक्खए) आयुष्य के क्षय होने पर वहाँ से (चुया) च्यव कर (माणुस) मनुष्य (जोणि) योनि को (उवेंति) प्राप्त होता है। और जहाँ जाती है वहाँ (से) वह (दसगे) दस अगवाला अर्थात् समृद्धिशाली (अभिजायई) होता है।

भावार्थ —हे गौतम ! यहाँ जो आत्माएँ शुभ कर्म करके स्वर्ग मे जाती है, वहाँ वे अपनी आयुष्य को पूरा कर अवशेष पुण्यो से फिर वे मनुष्य योनि को प्राप्त करती हैं। जिसमे भी यह समृद्धिशाली होती है।

इस कथन का यह आशय नही समझना चाहिए कि देव गति के बाद मनुष्य ही होता है। देव तिर्यंच भी हो सकता है और मनुष्य भी, परन्तु यहाँ उत्कृष्ट आत्माओ का प्रकरण है इसी कारण मनुष्य गति की प्राप्ति कही गई है।

मूल:—खित्तं वत्थु हिरण्ण च, पसवो दासपोरुस ।
चत्तारि कामखधाणि, तत्थ से उववज्जई ॥३२॥

छाया.—क्षेत्र वास्तु हिरण्यञ्च, पशवा दासपौरुषम् ।
चत्वार: कामस्कन्धा:, तत्र स उत्पद्यते ॥३२॥

---

(१) एक वचन होने से इसका आशय यह है कि समृद्धि के दश अग अन्यत्र कहे हुए हैं। उनमे से देवलोक से च्यव कर मृत्यु-लोक मे आने वाली किनीक आत्माओ को तो समृद्धि के नौ ही अग प्राप्त होते है। और किसी को आठ। इसीलिये एक वचन दिया है।

अन्वयार्थ.—हे इन्द्रभूति ! (खित्त) क्षेत्र जमीन (वत्थु) घर वगैरह (च) और सोना-चांदी (पसवो) गाय-भैंस वगैरह (दास) नौकर (पोरूस) कुटुम्बी जन, इस तरह से (चत्तारि) ये चार (कामखंधाणि) काम भोगों का समूह बहुतायत से है, (तत्थ) वहां पर (से) वह (उववज्जई) उत्पन्न होता है।

भावार्थ—हे गौतम ! जो आत्मा गृहस्थ का यथातथ्यधर्म तथा साधुव्रत पाल कर स्वर्ग में जाती है वह वहां से च्यव कर ऐसे गृहस्थ के घर जन्म लेती है, कि जहां (१) खुली जमीन अर्थात् बाग वगैरह, खेत वगैरह (२) ढकी जमीन अर्थात् मकानात वगैरह (३) पशु भी बहुत हैं और (४) नौकर चाकर एवं कुटुम्बी जन भी बहुत हैं, इस प्रकार जो यह चार प्रकार के काम भोगों की सामग्री है उसे समृद्धि का प्रथम अङ्ग कहते हैं। इस अंग की जहां प्रचुरता होती है वहां स्वर्ग से आने वाली आत्मा जन्म लेती है। और साथ ही में जो आगे नौ अंग कहेंगे वे भी उसे वहां मिलते हैं।

मूल—मित्तवं नाइवं होइ, उच्चगोए य वण्णवं।
अप्पायंके महापण्णे, अभिजाए जसोबले ॥२३॥

छाया—मित्रवान् ज्ञातिवान् भवति, उच्चैर्गोत्रो वीर्यवान्।
अल्पातङ्को महाप्राज्ञ, अभिजातो यशस्वी बली ॥२३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! स्वर्ग से आने वाला जीव (मित्तवं) मित्र वाला (नाइवं) कुटुम्ब वाला (उच्चगोए) उच्च गोत्र वाला (वण्णवं) कांति वाला (अप्पायंके) अल्प व्याधि वाला (महापण्णे) महान् बुद्धि वाला (अभिजाए) विनय वाला (जसो) यशवाला (य) और (बले) बल वाला (होइ) होता है।

भावार्थ—हे गौतम ! स्वर्ग से आये हुए जीव को समृद्धि का अंग मिलने के साथ ही साथ (१) वह अनेकों मित्रों वाला होता है। (२) इसी तरह कुटुम्बी जन भी उसके बहुत होते हैं (३) इसी तरह वह उच्च गोत्र वाला होता है। (४) अल्प व्याधिवाला (५) रूपवान् (६) विनयवान् (७) यशस्वी (८) बुद्धिशाली एवं (९) बली, यह होता है।

॥ इति नवदशोऽध्याय ॥

॥ ॐ ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय अठारहवाँ)

मोक्ष-स्वरूप

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूल—आणाणिद्देसकरे, गुरुणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ॥१॥

छाया—आज्ञानिर्देशकरः, गुरुणामुपपातकारक।
इङ्गिताकारसम्पन्नः, स विनीत इत्युच्यते ॥१॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (आणाणिद्देसकरे) जो गुरु जन एव बडे-बूढो की न्याययुक्त बातो का पालन करने वाला हो, और (गुरुण) गुरु जनो के (उववायकारए) समीप रहने वाला हो, और उनकी (इगियागारसपन्ने) कुछेक भृकुटी आदि चेष्टाएँ एव आकार को जानने मे सम्पन्न हो (से) वही (विणीए) विनीत है (त्ति) ऐसा (वुच्चई) कहा है।

भावार्थ—हे गौतम! मोक्ष के साधन रूप विनम्र भावो को धारण करने वाला विनीत है, जो कि अपने बडे-बूढे गुरुजनो तथा आप्त पुरुषो की आज्ञा का यथायोग्य रूप से पालन करता हो, उनकी सेवा मे रह कर अपना अहो-भाग्य समझता हो, और उनकी प्रवृत्ति निवृत्ति सूचक भृकुटी आदि चेष्टाओ तथा मुखाकृति को जानने मे जो कुशल हो, वह विनीत है। और इसके विपरीत अपना बर्ताव रखने वाला हो, अर्थात् बडे बूढे गुरुजनो की आज्ञा का [illegible]घन करता हो, तथा उनकी सेवा की जो उपेक्षा करे, वह अविनीत है या [illegible]ष्ट है।

मूल —अणुसासिओ न कुप्पिज्जा,
खंति सेविज्ज पंडिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं,
हासं कीडं च वज्जए ॥२॥

छाया —अनुशासितो न कुप्येत्, क्षान्ति सेवेत पण्डित ।
क्षुद्रै, सह संसर्गं, हास्य क्रीडा च वर्जयेत् ॥२॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (पंडिए) पंडित वही है, जो (अणुसासिओ) शिक्षा देने पर (न) नही (कुप्पिज्जा) क्रोध करे, और (खंति) क्षमा को (सेविज्ज) सेवन करता रहे। (खुड्डेहिं) बाल अज्ञानियो के (सह) साथ (संसग्गिं) संसर्ग (हास) हास्य (च) और (कीड) क्रीडा को (वज्जए) त्यागे।

भावार्थ —हे गौतम ! पंडित वही है, जो कि शिक्षा देने पर क्रोध न करे और क्षमा को अपना अंग बनाले। तथा दुराचारी और अज्ञानियो के साथ कभी भी हँसी-ठट्टा न करे, ऐसा ज्ञानियो ने कहा है।

मूल —आसणगओ ण पुच्छेज्जा,
णेव सेज्जागओ कयाइवि।
आगम्मुक्कुडुओ संतो,
पुच्छेज्जा पंजलीउडो ॥३॥

छाया —आसनगतो न पृच्छेत्, नैव शय्यागत कदापि च।
आगम्य उत्कुटुक सन्, पृच्छेत् प्राञ्जलिपुट ॥३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! गुरुजनो से (आसणगओ) आसन पर बैठे हुए कोई भी प्रश्न (ण) नही (पुच्छेज्जा) पूछना और (कयाइवि) कदापि (सेज्जागओ) शय्या पर बैठे हुए भी (ण) नही पूछना, पर (आगम्मुक्कुडुओ) गुरुजनो के पास आकर उकडूं आसन से (संतो) बैठकर (पंजलीउडो) हाथ जोड कर (पुच्छेज्जा) पूछना चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम ! अपने बडे-बूढ़े गुरुजनो को कोई भी बात पूछना हो तो आसन पर बैठे हुए या शयन करने के बिछौने पर बैठे ही बैठे कभी नही पूछना चाहिए । क्योंकि इस तरह पूछने से गुरुजनो का अपमान होता है । और ज्ञान की प्राप्ति भी नही होती है । अत उनके पास जा कर उकडूं आसन[1] से बैठ कर हाथ जोडकर प्रत्येक बात को गुरु से पूछे ।

मूल:—ज मे वुद्धाणुसासति, सीएण फरुसेण वा ।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ त पडिस्सुणे ।।४।।

छाया:—यन्मा बुद्धा अनुशासन्ति, शीतेन परुषेण वा ।
मम लाभ इति प्रेक्ष्य, प्रयतस्तत् प्रतिश्रृणुयात् ।।४।।

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (वुद्धा) बडे-बूढ़े गुरुजन (ज) जो शिक्षा दें, उस समय यो विचार करना चाहिए, कि (मे) मुझे (सीएण) शीतल (व) अथवा (फरुसेण) कठोर शब्दो से (अणुसासति) शिक्षा देते है । यह (मम) मेरा (लाभो) लाभ है (त्ति) ऐसा (पेहाए) समझ कर पट्कायो की रक्षा के लिए (पयओ) प्रयत्न करने वाला महानुभाव (त) उस बात को (पडिस्सुणे) श्रवण करे ।

भावार्थ—हे गौतम ! बडे-बूढ़े व गुरुजन मधुर या कठोर शब्दो मे शिक्षा दें, उस समय अपने को यो विचार करना चाहिए, कि जो यह शिक्षा दी जा रही है, वह मेरे लौकिक और पारलौकिक सुख के लिए है । अत. उनकी अमूल्य शिक्षाओ को प्रसन्नचित्त से श्रवण करते हुए अपना अहोभाग्य समझना चाहिए ।

मूल.—हिय विगयभया बुद्धा, फरुस पि अणुसासण ।
वेस त होइ मूढाण, खतिसोहिकर पयं ।।५।।

छाया:—हित विगतभया बुद्धाः, परुषमप्यनुशासनम् ।
द्वेष भवति मूढाना, क्षान्तिशुद्धिकर पदम् ।।५।।

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (विगयभया) चला गया हो भय जिससे ऐसा (बुद्धा) तत्त्वज्ञ, विनयशील अपने बडे-बूढ़े गुरुजनो की (फरुस) कठोर (अणु-

---

[1] Sitting on kneels

सासणं) शिक्षा को (पि) भी (हियं) हितकारी समझता है, और (मूढाणं) मूर्ख, "अविनीत" (खंतिसोहिकरं) क्षमा उत्पन्न करने वाला, तथा आत्म-शुद्धि करने वाला, ऐसा जो (पयं) ज्ञान रूप पद (तं) उसको श्रवण कर (वेसं) द्वेष युत (होइ) हो जाता है।

भावार्थ—हे गौतम! जिसको किसी प्रकार की चिन्ता भय नहीं है, ऐसा जो तत्त्वज्ञ, विनयवान महानुभाव अपने बड़े-बूढ़े गुरुजनों की अमूल्य शिक्षाओं को कठोर शब्दों में भी श्रवण करके उन्हें अपना परम हितकारी समझता है। और जो अविनीत मूर्ख होते हैं, वे उनकी हितकारी और श्रवणसुखद शिक्षाओं को सुन कर द्वेषानल में जला करते हैं।

मूल—अभिक्खणं कोही हवइ, पबंधं च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जई ॥६॥
अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पई।
सुप्पियस्साऽवि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥७॥
पइण्णवाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अवियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चई ॥८॥

छाया—अभीक्ष्णं क्रोधी भवति, प्रबन्धं च प्रकरोति।
मैत्रीयमाणो वमति, श्रुतं लब्ध्वा माद्यति ॥६॥
अपि पापपरिक्षेपी, अपि मित्रेभ्यः कुप्यति।
सुप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि भाषते पापकम् ॥७॥
प्रकीर्णवादी द्रोहशीलः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।
असंविभाग्यप्रीतिकरः, अविनीत इत्युच्यते ॥८॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (अभिक्खणं) बारम्बार (कोही) क्रोध युत (हवइ) होता हो (च) और सदैव (पबंधं) कलहोत्पादक कथा ही (पकुव्वई) करता हो (मेत्तिज्जमाणो) मैत्रीभाव को (वमइ) वमन करे (सुयं) श्रुतज्ञान को (लद्धूण) पाकर (मज्जई) मद करे (पावपरिक्खेवी) बड़े बूढ़े व गुरुजनों की [illegible] भूल को भी निन्दा रूप में करता (अवि) ही रहे (मित्तेसु) मित्रों पर

(अवि) भी (कुप्पइ) क्रोध करता रहे (सुप्पियस्स) सुप्रिय (मित्तस्स) मित्र के (अवि) भी (रहे) परोक्ष रूप मे उसके (पावग) पाप दोष (भासइ) कहता हो। (पइण्णवाई) सम्बन्ध रहित बहुत बोलने वाला हो, (दुहिले) द्रोही हो (थद्धे) घमण्डी हो। (लुद्धे) रसादिक स्वाद मे लिप्त हो (अणिग्गहे) अनिग्रहीत इन्द्रियों वाला हो (असविभागी) किसी को कुछ नही देता हो (अवियत्ते) पूछने पर भी अस्पष्ट बोलता हो, वह (अविणीए) अविनीत है। (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) ज्ञानी-जन कहते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! जो सदैव क्रोध करता है, जो कलहोत्पादक बातें ही नयी-नयी घड कर सदा कहता रहता है, जिसका हृदय मैत्री भावो से विहीन हो, ज्ञान सम्पादन करके जो उसके गर्व मे चूर रहता हो, अपने बडे-बूढे व गुरुजनो की न कुछ सी भूलो को भी भयंकर रूप जो देता हो, अपने प्रगाढ मित्रो पर भी क्रोध करने से जो कभी न चूकता हो, घनिष्ट मित्रो का भी उनके परोक्ष मे दोष प्रकट करता रहता हो, वाक्य या कथा का सम्बन्ध न मिलने पर भी जो वाचाल की भाँति बहुत अधिक बोलता हो, प्रत्येक के साथ द्रोह किये बिना जिसे चैन ही नही पडता हो, गर्व करने मे भी जो कुछ कोर कसर नही रखता हो, रसादिक पदार्थों के स्वाद मे सदैव आसक्त रहता हो, इन्द्रियो के द्वारा जो पराजित होता रहता हो, जो स्वय पेटू हो, और दूसरो को एक कौर भी कभी नही देता हो और पूछने पर भी जो सदा अनजान की ही भाँति बोलता हो, ऐसा जो पुरुष है, वह फिर चाहे जिस जाति, कुल व कौम का क्यो न हो, अविनीत है, अर्थात् अविनयशील है। उसकी इस लोक मे तो प्रशसा होगी ही क्यो ? परन्तु परलोक मे भी वह अधोगामी बनेगा।

मूल.—अह पण्णरसहि ठाणेहि, सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥९॥

छाया—अथ पञ्चदशभि स्थानै, सुविनीत इत्युच्यते।
नीचवृत्यचपल., अमाय्यकुतूहल: ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अह) अब (पण्णरसहिं) पन्द्रह (ठाणेहिं) स्थानो, बातो से (सुविणीए) अच्छा विनीत है (त्ति) ऐसा (वुच्चई) ज्ञानी जन कहते हैं। और वे पन्द्रह स्थान यो हैं। (नीयावित्ती) नम्र हो, बड़े-बूढ़े व

गुरुजनों से आसन से नीचे बैठने वाला हो, (अचवले) चपलता रहित हो (अमाई) निष्कपट हो (अकुऊहले) कुतूहल रहित हो।

भावार्थ.—हे गौतम! पन्द्रह कारणों से मनुष्य विनम्र शीलवान् या विनीत कहलाता है—वे पन्द्रह कारण यों हैं (१) अपने बड़े-बूढ़े व गुरुजनों के साथ नम्रता से जो बोलता हो, (२) उनसे नीचे आसन पर बैठता हो, पूछने पर हाथ जोड़ कर बोलता हो, बोलने, चलने, बैठने आदि में जो चपलता न दिखाता हो (३) सदैव निष्कपट भाव से जो बर्ताव करता हो (४) खेल, तमाशे, आदि कौतुकों के देखने में उत्सुक न हो।

मूल—अप्प चाहिक्खिवई, पबंध च न कुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो भयई, सुय लद्धु न मज्जई ॥१०॥
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥११॥
कलहडमरवज्जए, बुद्धे अभिजाइए।
हिरिम पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चई ॥१२॥

छाया—अल्प न अधिक्षिपति, प्रबन्ध च न करोति।
मैत्रीयमाणो भजते, श्रुत लब्ध्वा न माद्यति ॥१०॥
न च पापपरिक्षेपी, न च मित्रेषु कुप्यति।
अप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि कल्याण भाषते ॥११॥
कलहडमरवर्जक बुद्धोऽभिजातकः।
ह्रीमान् प्रतिसंलीन, सुविनीत इत्युच्यते ॥१२॥

शब्दार्थ—हे इन्द्रभूति! (अहिक्खिवई) बड़े-बड़े तथा गुरुजन आदि किसी का भी जो तिरस्कार न करता हो (य) और (पबंध) कलहोत्पादक कथा (न) नहीं (कुव्वई) करता हो, (मेत्तिज्जमाणो) मित्रता को (भयई) निभाता हो, (सुय) श्रुतज्ञान को (लद्धु) पा करके जो (न) नहीं (मज्जई) मद करता हो (य) और (न) नहीं करता हो (पावपरिक्खेवी) बड़े-छोटे तथा गुरुजनों की

कुछेक भूल को (य) और (मित्तेसु) मित्रो पर (न) नही (कुप्पई) क्रोध करता हो (अप्पियस्स) अप्रिय (मित्तस्स) मित्र के (रहे) परोक्ष मे (अवि) भी, उस के (कल्लाण) गुणानुवाद (भासई) बोलता हो, (कलहडमरवज्जए) वाक्युद्ध और काया युद्ध दोनो से अलग रहता हो, (बुद्धे) वह तत्त्वज्ञ फिर (अभिजाइए) कुलीनता के गुणो से युक्त हो, (हिरिम) लज्जावान हो, (पडिसलीणे) इन्द्रियो पर विजय पाया हुआ हो, वह (सुविणीए) विनीत है। (त्ति) ऐसा ज्ञानी जन (वुच्चई) कहते है।

भावार्थः—हे गौतम ! फिर तत्त्वज्ञ महानुभाव (५) अपने बडे-बूढ़े तथा गुरुजनो का कभी तिरस्कार नही करता हो (६) टण्टे फसाद की बातें न करता हो (७) उपकार करने वाले मित्र के साथ बने वहाँ तक पीछा उपकार ही करता हो, यदि उपकार करने की शक्ति न हो तो अपकार से तो सदा सर्वदा दूर ही रहता हो (८) ज्ञान पा कर घमण्ड न करता हो (९) अपने बडे-बूढ़े तथा गुरुजनो की कुछेक भूल को भयकर रूप न देता हो (१०) अपने मित्र पर कभी भी क्रोध न करता हो (११) परोक्ष मे भी अप्रिय मित्र का अवगुणो के बजाय गुणगान ही करता हो (१२) वाक् युद्ध और काया युद्ध दोनो से जो कतई दूर रहता हो, (१३) कुलीनता के गुणो से सम्पन्न हो (१४) लज्जावान् अर्थात् अपने बडे-बूढ़े तथा गुरुजनो के समक्ष नेत्रो मे शरम रखने वाला हो (१५) और जिसने इन्द्रियो पर पूर्ण साम्राज्य प्राप्त कर लिया हो, वही विनीत है। ऐसे ही की इस लोक मे प्रशसा होती है और परलोक मे उन्हे शुभ गति मिलती है।

मूल·—जहा हि अग्गी जलण नमसे,
नाणाहुई मतपयाभिसत्तं ।
एवायरियं उवचिट्ठइज्जा,
अणंतनाणोवगओ वि सतो ॥१३॥

छाया·—यथाहिताग्निर्ज्वलनं नमस्यति,
नानाऽऽहुतिमत्रपदाभिषिक्तम् ।
एवमाचार्यमुपतिष्ठेत्,
अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥१३॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (आहिअग्गी) अग्निहोत्री ब्राह्मण (जलण) अग्नि को (नमसे) नमस्कार करते हैं। तथा (नाणा हुई मतपयाभिसत्त) नाना प्रकार से घी प्रक्षेप रूप आहुति और मत्र पदो से उसे सिंचित करते हैं (एवायरिय) इसी तरह से बडे-बूढ़े व गुरुजन और आचार्य की (अणतनाणोवग-ओसतो) अनन्त ज्ञान युत् होने पर (वि) भी (उवचिट्ठइज्जा) सेवा करनी ही चाहिए।

भावार्थ —हे गौतम ! जिस प्रकार अग्निहोत्र ब्राह्मण अग्नि को नमस्कार करते हैं, और उसको अनेक प्रकार से घी प्रक्षेप रूप आहुति एव मत्र पदो से सिंचित करते हैं इसी तरह पुत्र और शिष्यो का कर्त्तव्य और धर्म है कि चाहे वे अनन्त ज्ञानी भी क्यो न हो उनको अपने बडे-बूढ़े और गुरुजनो एव आचार्य की सेवा शुश्रूषा करनी ही चाहिए। जो ऐसा करते हैं, वे ही सचमुच मे विनीत हैं।

मूल —आयरिय कुविय णच्चा, पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पजलीउडो, वइज्ज ण पुणुत्ति य ॥१४॥

छाया —आचार्यं कुपित ज्ञात्वा, प्रीत्या प्रसादयत्।
विध्यापयेत् प्राञ्जलिपुट, वदेन्न पुनरिति च ॥१४॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (आयरिय) आचार्य को (कुविय) कुपित (णच्चा[1]) जान कर (पत्तिएण) प्रीतिकारक शब्दो से फिर (पसायए) प्रसन्न करे (पजलीउडो) हाथ जोड कर (विज्झवेज्ज) शान्त करे (य) और (ण पुणुत्ति) फिर ऐसा अविनय नहीं करूँगा ऐसा (वइज्ज) बोले।

भावार्थ —हे गौतम ! वडे-बूढ़े गुरुजन एव आचार्य अपने पुत्र शिष्यादि के अविनय से कुपित हो उठें तो प्रीतिकारक शब्दो के द्वारा पुन उन्हें प्रसन्न

(१) कई जगह "णच्चा" की जगह 'नच्चा' भी मूल पाठ मे आता है। ये दोनो शुद्ध हैं। क्योकि प्राकृत मे नियम है, कि "नो ण" नकार का णकार होता है। पर शब्द के आदि मे हो तो वहाँ 'वा आदौ' इस सूत्र से नकार का णकार विकल्प से हो जाता है। अर्थात् नकार या णकार दोनो मे से कोई भी एक हो।

चित्त करे, हाथ जोड-जोड कर उनके क्रोध को शान्त करे, और यो कहकर कि "इस प्रकार" का अविनय या अपराध आगे से मैं कभी नहीं करूँगा, अपने अपराध की क्षमा याचना करे।

मूलः—णच्चा णमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायइ।
हवइ किच्चाण सरणं, भूयाणं जगइ जहा ॥१५॥

छाया.—ज्ञात्वा नमति मेधावी, लोके कीर्तिस्तस्य जायने।
भवति कृत्यानां शरण, भूताना जगती यथा ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! इस प्रकार विनय की महत्ता को (णच्चा) जान कर (मेहावी) बुद्धिमान् मनुष्य (णमइ) विनयशील हो, जिससे (से) वह (लोए) इस लोक मे (कित्ती) कीर्ति का पात्र (जायइ) होता है। (जहा) जैसे (भूयाण) प्राणियो को (जगई) पृथ्वी आश्रयभूत है, ऐसे ही विनीत महानुभाव (किच्चाण) पुण्य क्रियाओ का (सरण) आश्रयरूप (हवइ) होता है।

भावार्थ—हे गौतम ! इस प्रकार विनय की महत्ता को समझ कर बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि इस विनय को अपना परम सहचर सखा बनाले। जिससे वह इस ससार मे प्रशसा का पात्र हो जाय। जिस प्रकार यह पृथ्वी सभी प्राणियो को आश्रयरूप है, ऐसे ही विनयशील मानव भी सदाचार रूप अनुष्ठान का आश्रयरूप है। अर्थात् कृत कर्मों के लिए खदान रूप है।

मूल----स देवगधव्वमणुस्सपूइए,
चइत्तु देहं मलपकपुव्वय।
सिद्धे वा हवइ सासए,
देवे वा अप्परए महिड्डिए ॥१६॥

छायाः—स देवगन्धर्व मनुष्य पूजितः,
त्यक्त्वा देह मलपङ्क पूर्वकम्।
सिद्धो भवति शाश्वतः,
देवो वापि महर्द्धिक. ॥१६॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति (देवगंधव्वमणुस्सपूइए) देव, गधर्व और मनुष्य से पूजित (स) वह विनयशील मनुष्य (मलपंकपुव्वय) रुधिर और वीर्य से बनने वाले (देह) मानव शरीर को (चइत्तु) छोड करके (सासए) शाश्वत (सिद्धे वा) सिद्ध (हवइ) होता है (वा) अथवा (अप्परए) अल्प कर्म वाला (महिड्ढिए) महा ऋद्धिवान (देवे) देवता होता है ।

भावार्थ —हे गौतम ! देव, गधर्व और मनुष्यो के द्वारा पूजित ऐसा वह विनीत मनुष्य रुधिर और वीर्य से बने हुए इस शरीर को छोडकर शाश्वत सुखो को सम्पादन कर लेता है । अथवा अल्प कर्म वाले महा ऋद्धिवान देवो की श्रेणी मे जन्म धारण करता है । ऐसा ज्ञानी जनो ने कहा है ।

मूल—अत्थि एग धुव ठाण, लोगग्गम्मि दुरारुह ।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥१७॥

छाया—अस्त्येक ध्रुव स्थान, लोकाग्रे दुरारोहम् ।
यत्र नास्ति जरामृत्यु, व्याधयो वेदनास्तथा ॥१७॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (लोगग्गम्मि) लोक के अग्र भाग पर (दुरारुह) कठिनता से चढ़ सके ऐसा (एग) एक (धुव) निश्चल (ठाण) स्थान (अत्थि) है । (जत्थ) जहाँ पर (जरामच्चू) जरामृत्यु (वाहिणो) व्याधियो (तहा) तथा (वेयणा) वेदना (नत्थि) नही है ।

भावार्थ —हे गौतम ! कठिनता से जा सके, ऐसा एक निश्चल, लोक के अग्र भाग पर, स्थान है । जहाँ पर न वृद्धावस्था का दुख है और न व्याधियो ही की लेन-देन है तथा शारीरिक व मानसिक वेदनाओ का भी वहाँ नाम नहीं है ।

मूल—निव्वाण ति अबाह ति, सिद्धी लोगग्गमेव य ।
खेम सिवमणाबाह, ज चरति महेसिणो ॥१८॥

छाया—निर्वाणमित्यबाधमिति, सिद्धिर्लोकाग्रमेव च ।
क्षेम शिवमनाबाध, यच्चरन्ति महर्षय. ॥१८॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! वह स्थान (निव्वाणति) निर्वाण (अबाह ति) अबाध (सिद्धो) सिद्धि (य) और (एव) ऐसे ही (लोगग्ग) लोकाग्र (खेम) क्षेम (सिव) शिव (अणाबाह) अनाबाध, इन शब्दो से भी पुकारा जाता है। ऐसे (ज) उस स्थान को (महेसिणो) महर्षि लोग (चरति) जाते हैं।

भावार्थ.—हे गौतम ! उस स्थान को निर्वाण भी कहते है, क्योकि वहाँ आत्मा के सर्व प्रकार के सतापो का एकदम अभाव रहता है। अबाधा भी उसी स्थान का नाम है, क्योकि वहाँ आत्मा को किसी प्रकार की पीडा नही होती है। उसको सिद्धि भी कहते हैं, क्योकि आत्मा ने अपना इच्छित कार्य सिद्ध कर लिया है। और लोक के अग्र भाग पर होने से लोकाग्र भी उसी स्थान को कहते हैं। फिर उसका नाम क्षेम भी है, क्योकि वहाँ आत्मा को शाश्वत सुख मिलता है। उसी को शिव भी कहते है, क्योकि आत्मा निरुपद्रव होकर सुख भोगती रहती है। इसी तरह उसको अनाबाध[1] भी कहते है क्योकि वहाँ गयी हुई आत्मा स्वाभाविक सुखो का उपभोग करती रहती है, किसी भी तरह की बाधा उसे वहाँ नही होती। इस प्रकार के उस स्थान को सयमी जीवन के बिताने वाली आत्माएँ शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करती है।

मूल.—नाण च दसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एय मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छति सोग्गइ ॥१९॥

छाया—ज्ञान च दर्शन चैव, चरित्र च तपस्तथा।
एतन्मार्गमनुप्राप्ता:, जीवा गच्छन्ति सुगतिम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (नाण) ज्ञान (च) और (दंसण) श्रद्धान (चेव) और इसी तरह (चरित्त) चारित्र (च) और (तहा) वैसे ही (तवो) तप (एय) इन चार प्रकार के (मग्ग) मार्ग को (अणुप्पत्ता) प्राप्त होने पर (जीवा) जीव (सोग्गइ) मुक्ति गति को (गच्छति) प्राप्त होते है।

भावार्थ—हे गौतम ! इस प्रकार के मोक्ष स्थान मे वही जीव पहुँच पाता है, जिसे सम्यक् ज्ञान है, वीतरागो के वचनो पर जिसे श्रद्धा है, जो चारित्रवान है और तप मे जिसकी प्रवृत्ति है। इस तरह इन चारो मार्गों को यथाविधि

१ Natural happiness

जो पालन करता रहता है। फिर उसके लिए मुक्ति कुछ भी दूर नहीं है। क्योंकि—

मूल—नाणेण जाणई भावे, दसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हइ, तवेण परिसुज्झई ॥२०॥

छायाः—ज्ञानेन जानाति भावान्, दर्शनेन च श्रद्धते।
चारित्रेण निगृह्णाति, तपसा परिशुद्धयति ॥२०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (नाणेण) ज्ञान से (भावे) जीवादिक तत्त्वो को (जाणई) जानता है (य) और (दसणेण) दर्शन से उन तत्त्वो को (सद्दहे) श्रद्धता है। (चरित्तेण) चारित्र से नवीन पाप (निगिण्हइ) रुकता है। और (तवेण) तपस्या करके (परिसुज्झई) पूर्व सचित कर्मों को क्षय कर डालता है।

भावार्थ—हे गौतम! सम्यक्ज्ञान के द्वारा जीव तात्त्विक पदार्थों को भलीभाँति जान लेता है। दर्शन के द्वारा उसकी उनमे श्रद्धा हो जाती है। चारित्र अर्थात् सदाचार से भावी नवीन कर्मों को वह रोक लेता है। और तपस्या के द्वारा करोडो भवो के पापों को वह क्षय कर डालता है।

मूल—नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अण्णाण मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य सखएणं,
एगतसोक्ख समुवेइ मोक्ख ॥२१॥

छाया—ज्ञानस्य सर्वस्य प्रकाशनया, अज्ञानमोहस्य विवर्जनया।
रागस्य द्वेषस्य च सक्षयेण, एकान्तसौख्य समुपैति मोक्षम् ॥२१॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! आत्मा (सव्वस्स) सर्व (नाणस्स) ज्ञान के (पगासणाए) प्रकाशित होने से (अण्णाणमोहस्स) अज्ञान और मोह के (विवज्जणाए) छूट जाने से (य) और (रागस्स) राग (दोसस्स) द्वेष के (सखएण) क्षय हो जाने से (एगतसोक्ख) एकान्त सुख रूप (मोक्ख) मोक्ष की (समुवेइ) प्राप्ति करता है।

भावार्थः—हे गौतम ! सम्यक्ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान, अश्रद्धान् के छूट जाने से और राग-द्वेष के समूल नष्ट हो जाने से, एकान्त सुख रूप जो मोक्ष है, उसकी प्राप्ति होती है।

मूलः—सव्व तओ जाणइ पासए य,
अमोहणे होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते,
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥२२॥

छाया—सर्वं ततो जानाति पश्यति च,
अमोहनो भवति निरन्तराय.।
अनास्रवो ध्यानसमाधियुक्त,
आयुक्षये मोक्षमुपैति शुद्धः ॥२२॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (तओ) सम्पूर्ण ज्ञान के हो जाने के पश्चात् (सव्व) सर्व जगत् को (जाणइ) जान लेता है। (य) और (पासए) देख लेता है। फिर (अमोहणे) मोह रहित और (अणासवे) आस्रव रहित (होइ) होता है। (झाणसमाहिजुत्ते) शुक्लध्यान रूप समाधि से युक्त होने पर वह (आउक्खए) आयुष्य क्षय होने पर (सुद्धे) निर्मल (मोक्ख) मोक्ष को (उवेइ) प्राप्त होता है।

भावार्थ—हे गौतम ! शुक्लध्यान रूप समाधि से युक्त होने पर वह जीव मोह और अन्तराय रहित हो जाता है। तथा वह सर्व लोक को जान लेता है और देख लेता है। अर्थात् शुक्लध्यान के द्वारा जीव चार घनघातिया कर्मों का नाश करके इन चार गुणो को पाता है। तदनन्तर आयु आदि चार अघातिया कर्मों का नाश हो जाने पर वह निर्मल मोक्ष स्थान को पा लेता है।

मूलः—सुक्कमूले जहा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति।
एव कम्मा ण रोहंति, मोहणिज्जे खयगए ॥२३॥

छाया —शुष्कमूलो यथा वृक्ष , सिञ्चमानो न रोहति ।
एव कर्माणि न रोहन्ति, मोहनीये क्षयगते ।।२३।।

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (सुक्कमूले) सूख गया है मूल जिसका ऐसा (रुक्खे) वृक्ष, (सिच्चमाणे) सीचने पर (ण) नहीं (रोहति) लह-लहाता है (एव) उसी प्रकार (मोहणिज्जे) मोहनीय कर्म (खयगए) क्षय हो जाने पर पुन (कम्मा) कर्म (ण) नही (रोहति) उत्पन्न होते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस वृक्ष की जड सूख गई हो उसे पानी से सीचने पर भी वह लहलहाता नही है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर पुनः कर्म उत्पन्न नही होते हैं । क्योकि, जब कारण ही नष्ट हो गया, तो फिर कार्य कैसे हो सकता है ?

मूल —जहा दड्ढाण बीयाण, ण जायति पुणंकुरा ।
कम्मबीएसु दड्ढेसु, न जायति भवकुरा ।।२४।।

छाया —यथा दग्धानामङ्कुराणाम्, न जायन्ते पुनरकुरा ।
कर्मबीजेषु दग्धेषु, न जायन्ते भवाकुरा ।।२४।।

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (दड्ढाण) दग्ध (बीयाण) बीजो के (पुणकुरा) फिर अकुर (ण) नही (जायति) उत्पन्न होते हैं । उसी प्रकार (दड्ढेसु) दग्ध (कम्मबीएसु) कर्म बीजो मे से (भवकुरा) भव रूपी अकुर (न) नहीं (जायति) उत्पन्न होते हैं ।

भावार्थ —हे गौतम ! जिस प्रकार जले भूंजे बीजो को बोने से अकुर उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार जिसके कर्म रूपी बीज नष्ट हो गये हैं, सम्पूर्ण क्षय हो गये हैं, उस अवस्था मे उसके भव रूपी अंकुर पुन उत्पन्न नही होते हैं । यही कारण है कि मुक्तात्मा फिर कभी मुक्ति से लौटकर ससार मे नहीं आते ।

।। श्री गौतमउवाच ।।

मूल —कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहि बोंदि चइत्ता ण[1] , कत्थ गतूण सिज्झई ।।२५।।

---

१ ण वाक्यालकार ।

छाया—क्व प्रतिहता सिद्धा, क्व सिद्धाः प्रतिष्ठिताः।
क्व शरीर त्यक्त्वा, कुत्र गत्वा सिद्धयन्ति ॥२५॥

अन्वयार्थः—हे प्रभो! (सिद्धा) सिद्ध जीव (कहिं) कहाँ पर (पडिहया) प्रतिहत हुए हैं? (कहिं) कहाँ पर (सिद्धा) सिद्ध जीव (पइट्ठिया) रहे हुए है? (कहिं) कहाँ पर (बोंदि) शरीर को (चइत्ता) छोड कर (कत्थ) कहाँ पर (गतूण) जाकर (सिज्झई) सिद्ध होते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! जो आत्माए मुक्ति मे गयी है, वे कहाँ तो प्रतिहत हुई है? कहाँ ठहरी हुई है? मानव शरीर कहाँ पर छोडा है? और कहाँ जा कर वे आत्माएँ सिद्ध होती है?

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूल:—अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे अ पइट्ठिया।
इहं बोंदि चइत्ता ण[1] तत्थ गतूण सिज्झई ॥२६॥

छाया—अलोके प्रतिहता सिद्धा, लोकाग्रे च प्रतिष्ठिता।
इह शरीरं त्यक्त्वा, तत्र गत्वा सिद्धयन्ति ॥२६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (सिद्धा) सिद्ध आत्माएँ (अलोए) अलोक मे तो (पडिहया) प्रतिहत हुई है। (अ) और (लोयग्गे) लोकाग्र पर (पइट्ठिया) ठहरी हुई है। (इह) इस लोक मे (बोंदि) शरीर को (चइत्ता) छोडकर (तत्थ) लोक के अग्रभाग पर (गतूण) जाकर (सिज्झई) सिद्ध हुई है।

भावार्थः—हे गौतम! जो आत्माएँ सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों से मुक्त होती हैं, वे फिर शीघ्र ही स्वाभाविकता से ऊर्ध्व लोक को गमन कर अलोक से प्रतिहत होती हैं। अर्थात् अलोक मे गमन करने मे सहायक वस्तु धर्मास्तिकाय[2] न होने से लोकाग्र मे ही गति रुक जाती है। तब वे सिद्ध आत्माएँ लोक

---

१ ण वाक्यालकार।

२ A substance, which is the medium of motion to soul nd matter, and which contains innumerable atoms of space, pervades the whole universe and has no fulcrum of motion.

के अग्रभाग पर ठहरी रहती हैं। वे आत्माएँ इस मानव शरीर को यही छोड़-कर लोकाग्र पर सिद्धात्मा होती है।

मूल—अरूविणो जीवघणा, नाणदसणसन्निया।
अउल सुहसपन्ना, उवमा जस्स नत्थि उ ॥२७॥

छाया:—अरूपिणो जीवघना:, ज्ञानदर्शनसज्ञिता।
अतुल सुख सम्पन्ना, उपमा यस्य नास्ति तु ॥२७॥

अन्वयार्थ—हे गौतम! (अरूविणो) सिद्धात्मा अरूपी हैं। और (जीवघणा) वे जीव घन रूप हैं। (नाणदसणसन्निया) जिनकी केवलज्ञान दर्शन रूप ही सज्ञा है। (अउल) अतुल (सुहसपन्ना) सुखो से युक्त हैं (जस्स उ) जिसकी तो (उवमा) उपमा भी (नत्थि) नही है।

भावार्थ:—हे गौतम! जो आत्मा सिद्धात्मा के रूप मे होती हैं, वे अरूपी हैं, उनके आत्म-प्रदेश घन रूप मे होते हैं। ज्ञान दर्शन रूप ही जिनकी केवल सज्ञा होती है और वे सिद्धात्माएँ अतुल सुख से युक्त रहती हैं। उनके सुखो की उपमा भी नही दी जा सकती है।

॥ श्री सुधर्मोवाच ॥

मूल—एव से उदाहु अणुत्तरनाणी,
अणुत्तारदसी अणुत्तारनाणदसणधरे।
अरहा णायपुत्तो भयव,
वेसालिए विआहिए त्ति बेमि ॥२८॥

छाया:—एव स उदाहृतवान् अनुत्तरज्ञान्यनुत्तरदर्शी,
अनुत्तर ज्ञानदर्शनधरः।
अर्हन् ज्ञातपुत्र: भगवान्,
वैशालिको विख्यात ॥२८॥

अन्वयार्थ—हे जम्बू ! (अणुत्तरनाणी) प्रधान ज्ञान (अणुत्तरदसी) प्रधान दर्शन अर्थात् (अणुत्तरनाणदसणधरे) प्रधान ज्ञान और दर्शन उसके धारक, और (विआहिए) सत्योपदेशक (से) उन निर्ग्रन्थ (णायपुत्ते) सिद्धार्थ के पुत्र (वेसालिए) त्रिशला के अगज (अरहा) अरिहत (भयव) भगवान् ने (एव) इस प्रकार (उदाहु) कहा है। (त्ति बेमि) इस प्रकार सुधर्म स्वामी ने जम्बू स्वामी प्रति कहा है।

भावार्थः—हे जम्बू ! प्रधान ज्ञान और प्रधान दर्शन के धारी, सत्योपदेश करने वाले, प्रसिद्ध क्षत्रिय कुल के सिद्धार्थ राजा के पुत्र और त्रिशला रानी के अगज, निर्ग्रन्थ, अरिहत भगवान महावीर ने इस प्रकार कहा है, ऐसा सुधर्म स्वामी ने जम्बू स्वामी के प्रति निर्ग्रन्थ के प्रवचन को समझाया है।

॥ इति अष्टादशोध्यायः ॥
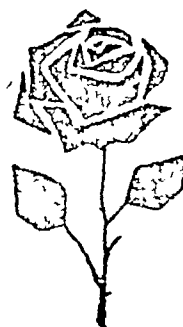
अकाराद्यनुक्रमणिका

संकेत-सुबोधिका

(List of Abbreviations)

द = दशवैकालिक सूत्र,

अ = अध्याय,

गा = गाथा,

जी = जीवाभिगम सूत्र,

प्रक = प्रकरण,

उद्दे = उद्देशा,

उ = उत्तराध्ययन सूत्र,

स्था = स्थानाग सूत्र,

प्रश्न = प्रश्नव्याकरण सूत्र,

सम = समवायाग सूत्र,

सू = सूत्रकृताग सूत्र,

प्रथ = प्रथम,

ज्ञा = ज्ञाताधर्मकथाग सूत्र,

आ = आचाराग सूत्र,

द्वि = द्वितीय,

भ = भगवती सूत्र,

श = शतक

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

पर

कुछ प्रमुख विद्वानों की सम्मतियाँ

☐ श्रीमान् ला० कन्नोमलजी एम ए, सेशन जज, धौलपुर

ग्रन्थ बडे महत्व का है। साधु तथा गृहस्थ दोनो के काम की चीज है। इसका स्थान सभी के घरो मे होना चाहिए। विशेषत· पाठशालाओ के पाठ्य-क्रम मे इसका प्रवेश अत्यन्त आवश्यक है।

☐ श्रीयुत प· रामप्रतापजी शास्त्री,
भू· पू प्रोफेसर, पाली सस्कृत, मोरिस कालेज, नागपुर

इसके द्वारा जैन साहित्य मे एक मूल्यवान सकलन हुआ है। यह केवल जैनदर्शन के इच्छुक विद्वानो को ही नही बल्कि जैन साहित्य मे रुचि रखने वाले सभी सज्जनो के लिए अति उपयोगी वस्तु है।

☐ श्रीमान् प्रो सरस्वती प्रसादजी चतुर्वेदी एम ए,
व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ, मोरिस कालेज, नागपुर

इस ग्रन्थरत्न की सूक्तियो का मनन समस्त मानव-समाज के लिए हितकर है। क्योकि ये सूक्तियाँ किसी एक मत या सम्प्रदाय विशेष की न होकर विश्वजनीन है।

☐ श्रीमान् प्रो श्यामसुन्दरलालजी चोरडिया, एम. ए
मोरिस कॉलेज, नागपुर

श्री मुनि महाराजजी का किया हुआ अनुवाद अत्यन्त सरल, स्पष्ट और प्रभावोत्पादक है।

☐ श्रीयुत् वी वी. मिराशी, प्रोफेसर सस्कृत विभाग,
मोरिस कॉलेज, नागपुर

यह पुस्तिका जैन साहित्य की धार्मिक और दार्शनिक सर्वोत्तम गाथाओ का सग्रह है ।

☐ श्रीमान् गोपाल केशव गर्दे एम. ए. भूतपूर्व प्रो, नागपुर

इसी प्रकार से सात आठ अर्धमागधी के ग्रन्थ छपवाए जायँ तो इस भाषा (प्राकृत) का भी परिचय सरल सस्कृत की नाईं बहुजन समुदाय को अवश्य हो जायगा ।

☐ श्रीमान् प्रो हीरालालजी जैन एम ए, एल-एल बी.
किङ्ग एडवर्ड कॉलेज, अमरावती

इस पुस्तक का अवलोकन कर मुझे बडी प्रसन्नता हुई । पुस्तक प्राय शुद्धतापूर्वक छपी है और चित्ताकर्षक है। × × × साहित्य और इतिहास प्रेमियो को इससे बडी सुविधा और सहायता मिलेगी ।

☐ श्रीमान् महामहोपाध्याय रायबहादुर प गौरीशकर
हीराचन्दजी ओझा, अजमेर

यह पुस्तक केवल जैनो के लिए ही नही किन्तु जैनेतर गृहस्थो के लिए भी परमोपयोगी है ।

☐ श्रीमान् ला बनारसीदासजी एम ए, पी-एच डी
ओरियन्टल कॉलेज, लाहोर

स्वामी चौथमलजी महाराज ने निर्ग्रन्थ प्रवचन रचकर न केवल जैन समाज पर किन्तु समस्त हिन्दी ससार पर उपकार किया है। ऐसे ग्रन्थ की अत्यन्त आवश्यकता थी ।

☐ श्रीयुत् प्रो के एन अभ्यकर एम ए., गुजरात कॉलेज, अहमदाबाद

पुस्तक विश्वविद्यालयो मे विद्वानो और विद्यार्थियो के हाथो मे रखने योग्य है । विश्वविद्यालय के पाठ्य-ग्रन्थो मे चुनाव के समय मैं इस लिये अपनी ओर से सिफारिश करूँगा ।

☐ श्रीमान् अत्तरसेनजी जैन सम्पादक "देशभक्त" मेरठ

यह पुस्तक प्रत्येक जैन घराने मे पढी जाने योग्य है ।

☐ श्रीमान् प्रो हीरालालजी रसिकदासजी कापडिया एम. ए , बम्बई

आवुं सर्वोपयोगी पुस्तक छपाववा वद्दल सग्राहक अने प्रकाशक ने अभिनन्दन घटे छे ।

☐ श्रीमान् प लालचन्दजी भगवानदासजी गाधी
गायकवाड लायब्रेरी, बडोदा

प्रसिद्धवक्ता मुनिश्री चौथमलजी महाराज का यह प्रयत्न प्रशसनीय है ।

☐ श्रीमान् नन्दलालजी केदारनाथजी दीक्षित बी ए , एम सी पी
भूतपूर्व विद्याधिकारी, बड़ोदा

निर्ग्रन्थ प्रवचन के पठन-पाठन से जनता भारी लाभ उठा सकती है। ऐसा सुन्दर ग्रन्थ प्रकाशित करके आपने जैन और जैनेतर मनुष्यो पर भारी उपकार किया है ।

☐ श्रीयुत गोविन्दलाल भट्ट एम. सी., प्रोफेसर सस्कृत,
बडोदा कॉलेज, बडोदा

यह सग्रह अत्यन्त उपयोगी और कठस्थ करने योग्य है ।

☐ श्रीयुत प्रोफेसर भावे, बडोदा कॉलेज, बड़ोदा

यह पुस्तक जैनधर्म का अध्ययन करने वाले अथवा रुचि रखने वाले महानुभावो के लिये उपयोगी सिद्ध होगी ।

☐ श्रीमान् प. जुगलकिशोरजी मुख्तार, सरसावा

आगम-ग्रन्थो पर से अच्छे उपयोगी पद्यो को चुनकर ऐसे संग्रहो के तैयार करने की नि सन्देह जरूरत है । इसके लिये मुनिश्री चौथमलजी का यह उद्योग और परिश्रम प्रशसनीय है ।

☐ श्रीमान् पं प्यारेकिसनजी साहेब कोल भूतपूर्व दीवान
सैलाना स्टेट एव भूतपूर्व एडवाइजर, झाबुआ स्टेट
एव (Member Council) उदयपुर (मेवाड)

इस पुस्तक के भारी प्रचार से अवश्य ही उत्तम परिणाम निकलेगा और इसका प्रचार खूब हो ऐसी मेरी भावना है।

☐ श्रीमान् अमृतलालजी सवचन्दजी गोपाणी एम ए
बडोदा कॉलेज, बडोदा

अपने समाज की कतिपय पुस्तको की अपेक्षा यह पुस्तक बिलकुल उत्तम है इसमे शक नही।

☐ श्रीमान् प्रो घासीरामजी जैन M Sc , F P S (London)
विक्टोरिया कॉलेज, ग्वालियर

इस पुस्तक के अविरल स्वाध्याय से मुमुक्षु की आत्मा को सच्ची शाति प्राप्त होगी।

☐ श्रीमान् प्रो बूलचन्दजी एम॰ ए
इतिहास और राजनीति के प्रोफेसर, हिन्दू कॉलेज, दिल्ली

आपने इस पुस्तक के प्रकाशन द्वारा एक बडी आवश्यकता की पूर्ति की है।

☐ श्रीमान् रामस्वरूपजी एम ए शास्त्री, सस्कृत के प्रोफेसर,
मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ

यह पुस्तक पालि और प्राकृत भाषाओ की कक्षाओ के लिए पाठ्य-ग्रन्थो में रखने योग्य है।

☐ श्रीमान् डाक्टर पी एल वैद्य एम ए (कलकत्ता)
डी लिट् (पेरिस)
प्रोफेसर सस्कृत और प्राकृत, वाडिया कालेज, पूना

निर्ग्रन्थ-प्रवचन इसी तरह जैनियो के धर्मशास्त्रो के उपदेश का सार है। मैं चाहता हूँ कि हर एक जैन यह नियम कर ले कि उसका कम-से-कम एक अध्याय रोज पढे और मनन करे।

☐ महामहोपाध्याय डा गंगानाथ झा, एम. ए डी. लिट्,
व्हाइस चान्सलर, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद

यह तमाम जैन विद्यार्थियो के लिए बहुत उपयोगी प्रमाणित होगी।

☐ प्रोफेसर केशवलाल हिम्मतराम एम ए, वडोदा कालेज, वडोदा

जैनशास्त्रो मे से सग्रह कर ऐहिक और पारलौकिक ज्ञान का सार बहुत ही स्पष्ट और विद्वत्ता के साथ सग्रह किया गया है।

× × ×

धर्म के प्रति श्रद्धा रखने वाले सभी को इसे पढने के लिए मैं अनुरोध करता हूँ।

☐ प्रो शम्भूदयाल यज्ञधारी एम ए महाराणा कालेज, उदयपुर

निर्ग्रन्थ-प्रवचन पुस्तक की रचना कर जैन साहित्य की वास्तविक सेवा की है।

☐ श्रीमान् के जे मशरूवाला, अहमदाबाद

पुस्तक जनता के लिए अति उपयोगी है।

☐ श्रीमान् बाबू कामताप्रसादजी जैन एम आर. एस
सम्पादक 'वीर' अलीगज, जिला एटा

यह पुस्तक सार्थक नाम है। श्वेताम्बरीय अग ग्रन्थो से निर्ग्रन्थ महाप्रभुओ के धार्मिक प्रवचनो का सग्रह इसमे किया गया है और वह सबके लिए उपादेय है।

☐ श्रीमान् धीरजलालजी के. तुरखिया, ऑ अधिष्ठाता,
श्री जैन गुरुकुल, ब्यावर

जैनधर्म के अभ्यासियो को और विद्यार्थियो को पाठ करने योग्य है। जैन सस्थाओ के पाठ्यक्रम मे भी रखने योग्य है।

☐ श्रीमान् ज्योतिप्रसादजी जैन भू. पू. सम्पादक,
जैन प्रदीप (प्रेमभवन), देववन्द (यू. पी.)

मैं इस छोटे से संग्रह-ग्रन्थ को यदि जैन गीता कह दूं तो कुछ अनुचित न होगा। इससे प्राणी मात्र लाभ ले सकते हैं।

☐ श्रीमान् पं. शोभाचन्दजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ, सम्पादक 'वीर'
श्री जैन गुरुकुल, व्यावर

यह संग्रह पाठशालाओं मे पढाने योग्य है। जैन गुरुकुल मे इसे पाठ्यक्रम मे नियत किया गया है।

☐ श्री परमानंदजी बी ए, गुरुकुल विद्यालय, सोनगढ

साहित्य में ऐसे ही ग्रन्थो की महती आवश्यकता है। आपने सर्वसाधारण को ऐसे सुअवसर से लाभ उठाने का अवसर देकर प्रशसनीय एव स्पृहणीय कार्य किया है।

☐ श्री प भगवतीलाल जी 'विद्याभूषण', राजकीय
पुस्तक प्रकाशकाध्यक्ष, जोधपुर

यह पुस्तक हरेक धार्मिक पुरुष अपने पास रखें और मनन करके आत्म-लाभ उठावें। इसमे अपूर्व धर्म का सार दिया गया है।

☐ श्रीमान् सूरजभानुजी वकील, शाहपुर, तहसील बुरहानपुर,
जि. नीमाड़ (बरार)

जैनियों को प्रारम्भ मे यह पुस्तक जरूर पढनी चाहिए।

☐ श्रीयुत कीर्तिप्रसादजी जैन बी ए, एल-एल. बी
वकील हाईकोर्ट, बिनोली (मेरठ)

सब धर्मप्रेमी बन्धु और खास कर जैन भाई व बहन इस पुस्तक से पूरा लाभ उठावेंगे।

☐ श्रीमान् भूपेन्द्रसूरिजी महाराज, भीनमाल

आपका आशयपूर्ण उद्योग सफल है। जैन सघ मे अत्युपयोगी है।

☐ प्रवर्तक श्रीमान् कान्तिविजयजी महाराज, पाटण

सग्राहक-महात्माजी नो परिश्रम सारो थयो छे।

☐ मुनिश्री सुमतिविजयजी, गुजरानवाला (पजाव)

आपकी महनत प्रशसनीय है।

☐ जैनाचार्य पूज्यश्री अमोलक ऋपिजी महाराज

शास्त्र-प्रेमी और व्याख्यानदाताओ को तो अवश्य पढने योग्य है।

☐ कविवर्य पण्डितमुनिश्री नानचन्द्रजी महाराज

उत्तम रत्नो चूंटी काढी जिज्ञासु वर्ग ऊपर भारे उपकार कर्यो छे एकदर चूटणी बहु सुन्दर छे।

☐ शतावधानी प मुनिश्री सौभाग्यचन्द्रजी महाराज (सत बाल)

प्रस्तुत ग्रन्थ ना सग्राहकने वाचक वर्ग अवश्य आभार मानवो घटे छे।

☐ योगनिष्ठ प. मुनिश्री त्रिलोकचन्दजी महाराज

आवकारदायक छे हूँ अेने सत्कारूं छुं आवा "प्रवचनो" एकज भाग थी अटकी न रहे अे खास सूचवुं छुं।

☐ उपाध्याय मुनिश्री आत्मारामजी महाराज
(श्रमण सघ के प्रथमाचार्य)

मुमुक्षु जनो को अवश्य पठनीय है।

☐ प्रसिद्धवक्ता सौभाग्यमलजी महाराज

जो प्राकृत का ज्ञान नही रखते है, उन जीवो के लिये भारी उपकार किया है।

☐ "जैन महिलादर्श" सूरत वर्ष १२ अङ्क ८ में लिखता है कि—
पुस्तक में गाथा सरल सच्चे हैं। मनन करने योग्य हैं।

☐ 'दिगम्बर जैन' सूरत वर्ष २८ अङ्क १२ वीर सं. २४५९ पृष्ठ ३९१
जैनों को ही नहीं किन्तु मानवमात्र के लिए हितकारी है। पुस्तक की नीतिपूर्ण गाथाएँ संग्रह करने योग्य हैं। पुस्तक संग्रहणीय व उपयोगी है।

☐ 'जैन मित्र' सूरत ता. १८-११-३३ में लिखता है—
कुल गाथाएँ ३७७ हैं। वे सब कण्ठ करने योग्य हैं। दिगम्बरी भाई भी अवश्य पढ़ें।

"जैन जगत्" अजमेर अक्टूबर सन् ३३ के अंक में लिखता है—
जैन सूत्रग्रन्थों में नीतिपूर्ण उपदेशात्मक गाथाओं का यह सुन्दर संग्रह है।

☐ 'वीर' मल्हीपुर ता. १८-११-३३ में लिखता है—
संग्रह परिश्रमपूर्वक किया गया है। प्रत्येक जैन पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में रखने योग्य है।

☐ "अर्जुन" देहली ता. ९-११-३३ में लिखता है—
जैनधर्म सम्बन्धी पाठ्यग्रन्थों में इस पुस्तक का स्थान ऊँचा समझा जावेगा।

☐ "वेंकटेश्वर समाचार" बम्बई ता. १४-१२-३३ में लिखता है—
यह एक समादरणीय ग्रन्थ है पर जैनधर्म को न मानने वाले भी महानुभाव इससे लाभ उठा सकते हैं।

☐ "कर्मवीर" संख्या ५० ता. १७ मार्च १९३४ में लिखता है—
भक्ति-ज्ञान वैराग्यमय गीता के समान इस पुस्तक को सर्वोपयोगी ग्रन्थ का रूप देने के लिए संग्राहक महोदय प्रशंसा के पात्र हैं।

☐ "बम्बई समाचार" ता २२ जुलाई १९३३ में लिखता है कि—
जैनों तेम जैनेतरो माटे पण एक सरस उपयोगी छे।

☐ श्री "जैन पथ-प्रदर्शक" आगरा ता ६ सितम्बर ३३ मे लिखता है कि—

प्रत्येक जैनी को पढकर के मनन करना चाहिए और जैनेतर जनता मे इसका यथेष्ट प्रचार होना चाहिए। प्रत्येक पुस्तकालय मे इसका होना जरूरी है।

☐ "जैन प्रकाश" वम्बई वर्ष २० अङ्क ४३ ता० १० सेप्टेम्वर १९३३ मे लिखता है कि—

मुनिश्री ने आगम साहित्य का नवनीत निकाल कर गीता के समान १८ अध्यायो मे विभक्त करके पाठको के सामने रखा है।

× × ×

वहुत उपयोगी सग्रह हुआ है।

☐ 'जैन ज्योति' अहमदावाद वर्ष ३ अङ्क ३ मे लिखता है—

आ चूटणी नित्य पाठ माटे खूब उपयोगी छे अेमा भाग्येज शका छे।

☐ कराची (सिंध) से प्रकाशित सन् १९३४ के २२ वी दिसम्बर का 'पारसी ससार और लोकमत' लिखता है कि—

हिन्दी भाषा जानने वाली प्रजा के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है और प्रत्येक हिन्दी भाषी को अपने घर मे मनन करने के लिए रखने योग्य है।

☐ सैलाना से प्रकाशित सन् १९३४ के जुलाई के 'जीवन ज्योति' ने लिखा है कि—

निर्ग्रन्थ-प्रवचन आध्यात्मिक ज्ञान का अमूल्य ग्रन्थ है। इन उपदेशो से क्या जैन और क्या अजैन सभी समान रूप से लाभ उठा सकते हैं।

] कलकत्ते से प्रकाशित 'विश्वमित्र' अप्रेल सन् १९३४ के पृष्ठ ११३५ पर लिखता है कि—

जैनधर्म के प्रवर्तक महात्मा महावीर के प्रवचनो का सानुवाद सग्रह किया गा है।

× × ×

अनुवाद की भाषा सरल है।